इकाई 18 नाट्य प्रस्तुतियों, फिल्मों और कला प्रदर्शनियों की समीक्षा

इकाई की रूपरेखा

18.0 उद्देश्य

18.1 प्रस्तावना

18.2 अखबारों में कला समीक्षा का अभिप्राय

18.3 कला समीक्षक का महत्त्व

18.4 कला समीक्षा के लिए आवश्यक पृष्ठभूमि

18.5 कला समीक्षा के क्षेत्र

- 18.5.1 रंगमंच
- 18.5.2 सिनेमा
- 18.5.3 कला प्रर्दशनी

18.6 कला समीक्षा के विविध पक्ष

- 18.6.1 रंगकर्म: आवश्यक पृष्ठभूमि
- 18.6.2 रंगमंच पर समीक्षा की विशेषताएं
- 18.6.3 सिनेमा: आवश्यक पृष्ठभूमि
- 18.6.4 सिनेमा पर लेखन की विशेषताएं
- 18.6.5 कला समीक्षा: आवश्यक पृष्ठभूमि
- 18.6.6 कला समीक्षा की विशेषताएं

18.7 कला समीक्षक के लिए आवश्यक योग्यता

18.8 अच्छे समीक्षक के गुण

- 18.8.1 विशेषज्ञता
- 18.8.2 वस्तुनिष्ठता
- 18.8.3 दृष्टिसंपन्नता

18.9 कला समीक्षा के पहलू

- 18.9.1 इतिहास का ज्ञान
- 18.9.2 दृष्टि विकसित करना
- 18.9.3 रचनाएं और रचनाकार

18.10 कला समीक्षा की भाषा और शैली

- 18.10.1 प्रस्तुति
- 18.10.2 विश्लेषण
- 18.10.3 शीर्षक

18.11 कुछ अन्य महत्त्वपूर्ण टिप्स

18.12 सारांश

18.13 बोध प्रश्नों/अभ्यासों के उत्तर

18.0 उद्देश्य

इस इकाई में आप समाचारपत्रों और पत्रिकाओं में लिखी जाने वाली सिनेमा, रंगमंच, और कला प्रदर्शनियों की समीक्षा के बारे में व्यावहारिक ज्ञान हासिल कर सकेंगे। इस इकाई को पढ़ने के

बाद आप:

- सिनेमा, रंगमंच और कला पर लिखी जाने वाली समीक्षा की विषयवस्तु और उससे जुड़ी पृष्ठभूमि की समझ हासिल कर सकेंगे।
- अखबारों में कला समीक्षा के महत्त्व और पत्रकारिता में उसकी जरूरत को समझ सकेंगे और यह जान सकेंगे कि किन पहलुओं में कला समीक्षा लिखी जा सकती है।
- सिनेमा, रंगमंच और कला प्रदर्शनियों की समीक्षा के लिए व्यक्तिगत स्तर पर आवश्यक तैयारी कर सकेंगे और इस विधा के बारे में व्यावहारिक ज्ञान हासिल कर सकेंगे; तथा
- समीक्षा की प्रस्तुति, उसके विश्लेषणात्मक पहलू और भाषा-शैली की तकनीकी जानकारी हासिल कर सकेंगे, अच्छी समीक्षा लिखे जाने के लिए आवश्यक पृष्ठभूमि की जानकारी ले सकेंगे और खुद को बेहतर समीक्षक के तौर पर विकसित कर सकेंगे।

18.1 प्रस्तावना

यह समाचार पत्रों के लिए फीचर लेखन से संबंधित व्यवहारमूलक पाठ्यक्रम की 18वीं इकाई है। इस इकाई में हम आपको सिनेमा, रंगमंच और कला प्रदर्शनियों पर लिखी जाने वाली समीक्षा के बारे में जानकारी देंगे। इसमें हम आपको बताएंगे कि अच्छी समीक्षा के लिए किन बातों का ध्यान रखने की जरूरत है। हम यह भी समझने का प्रयास करेंगे कि इन विशिष्ट विधाओं की समीक्षा के लिए हमें किस तरह दृष्टि और समझ विकसित करनी चाहिए। हम संक्षेप में कलाओं की पृष्ठभूमि और भारत के आर्थिक-सामाजिक परिदृश्य में आए बदलावों के संदर्भ को जानने का प्रयास करेंगे। कुछ श्रेष्ठ समीक्षकों के उदाहरणों को पढ़कर तथा उनका विश्लेषण करते हुए यह देखेंगे कि वे कौन से प्रमुख बिंदु हैं, जिनकी मदद से एक अच्छी समीक्षा लिखी जा सकती है। अच्छी समीक्षा में प्रयोग होने वाली भाषा-शैली और उसकी बुनावट पर अलग से विचार किया जाएगा। इससे आपको अपनी समीक्षा को बेहतर बनाने में मदद मिलेगी।

18.2 अखबारों में कला समीक्षा का अभिप्राय

अखबारों में कला समीक्षा से अभिप्राय सिनेमा, रंगमंच, संगीत, नृत्य और कला प्रदर्शनियों के बारे में छपने वाली उन रिपोर्टों से है, जिनमें समीक्षात्मक टिप्पणियां भी शामिल होती हैं। इसमें हम इन कला विधाओं पर छपने वाले समीक्षात्मक लेखों को भी शामिल कर सकते हैं। आम तौर पर कला समीक्षा उस तरह से अखबार का अनिवार्य हिस्सा नहीं होती, जैसे अन्य कॉलम होते हैं, मगर हाल में मीडिया के विस्तार ने एक नए तरीके से अन्य माध्यमों की तरफ ध्यान आकृष्ट किया है। इन विधाओं की प्रस्तुति में प्रयोगशीलता आने और व्यापक प्रचार-प्रसार के कारण कई बार ये विवादों से घिर जाती है। आम तौर पर अभिव्यक्ति का कोई न कोई माध्यम किसी न किसी वजह से सुर्खियों में छाया रहता है। उदाहरण के तौर पर, मेल गिब्सन की फिल्म 'द पैशन ऑव क्राइस्ट' अपनी अलग दृष्टि के कारण पूरी दुनिया के मीडिया में चर्चा का विषय बन गई। अपने देश में जाने माने हिन्दी कवि तथा कला समीक्षक विष्णु खरे ने भी इस फिल्म के बारे में विस्तार से लिखा है-

मेल गिब्सन की फिल्मों में शारीरिक यंत्रणा और अत्याचार- जनित मृत्यु बार-बार आई है। वैसे तो उनकी यह फिल्म कैथोलिक संप्रदाय के एक कर्मकांड पर आधारित है जिसमें ईसा की मर्मांतक वेदना (दरअसल 'पैशन' का मूल अर्थ 'पीड़ा' ही है, बाद में वह भावोन्माद या वासना तक हो गया) का अभिनय या स्मरण किया जाता है। लेकिन उन्होंने ईसा पर बीसियों कोड़े पड़ते दिखाए हैं। और उसके बाद उन्हें कंटीले मुग्दरों से, लाठियों, तलवारों आदि से मारा जाता भी

दिखाया है। सिर्फ एक लंगोटी पहने ईसा के पूरे शरीर की चमड़ी उधेड़ दी जाती है, उनकी कुछ पसलियां दिखने लगती हैं एक आंख लगभग चली जाती है। चमड़ी, मांस और खून से फर्श चिपचिपा हो जाता है।

'पावन हिंसा से छिटकते खून के छींटे' (विष्णु खरे)

सिर्फ राष्ट्रीय स्तर पर नहीं, बल्कि क्षेत्रीय अखबारों में कला समीक्षा ने जोर पकड़ा है। दिल्ली और प्रदेशों की राजधानियों के अलावा देश के सभी प्रमुख शहरों में रंगमंच और कला के बढ़ने के कारण अखबारों में इन्हें जगह मिलने लगी है। स्थानीय अखबार इनकी कवरेज भी विस्तार से करते हैं। अब तो सिनेमा की समीक्षा भी स्थानीय स्तर पर होने लगी है, जिसमें दर्शकों की प्रतिक्रियाओं को शामिल करने का चलन बढ़ जा रहा है। लेकिन अखबारों में पर्याप्त जगह मिलने के बावजूद इनकी समीक्षा किसी दृष्टि और अपेक्षित जानकारी के अभाव में सपाट बनकर रह जाती है। नतीजा यह होता है कि जिन पाठकों को ध्यान में रखकर इन्हें छापा जाता है, ये उनके मतलब की भी नहीं रह जातीं। कला समीक्षा के बारे में थोड़ी सी समझ भी इन समीक्षाओं को बेहतर स्वरूप प्रदान कर सकती है।

18.3 कला समीक्षक का महत्व

यहां हम हिंदी की ऐतिहासिक पत्रिका 'सुधा' के सितंबर 1932 को प्रकाशित अंक के खंड-I में 'भारतीय फिल्में' शीर्षक से प्रकाशित लेख के अंश को दिलचस्प उदाहरण के रूप में देख सकते हैं-

उचित तो यह था कि सिनेमा-चित्रपटों से भारतीय नाट्यकलाकार शिक्षा ग्रहण करते और इन गुणों का अपनी निज कला में यथासंभव सम्मिश्रण करते। यदि ऐसा होता, तो टॉकी का अविष्कार भारतीय नाट्यकला पर एक आशीर्वाद स्वरूप होता। परंतु देखा गया है कि इन गुणों पर कुछ भी विचार नहीं किया गया। भारतीय फिल्मों में मोटर और घोड़ों के उपयोग, मारपीट, स्त्री अपहरण आदि पुराने दृश्यों की भद्दी नकलें तो की गईं, परंतु चरित्र-चित्रण, अभिनय, अर्थ-गांभीर्य, कला, इनका रत्ती-भर भी ध्यान नहीं किया गया, और जब टॉकी फिल्में बनीं, तो रहा-सहा सौंदर्य भी नष्ट हो गया। आज जो भी सिनेमा-फिल्म टॉकी और मूक हैं, वे प्रायः एक भंड पाखंड हैं। बहुधा इन फिल्मों के बनाने वाले धार्मिक प्लाट लेते हैं, पर वे पौराणिक गपोड़ों और अंधकथाओं के आधार पर होते है। अर्थ-गांभीर्य तो वहां हो ही क्या सकता था, सुरुचि और शिक्षा भी उनमें नहीं है।

यह उदाहरण दर्शाता है कि कैसे कला विधाओं की समीक्षा एक सामाजिक दस्तावेज का रूप ग्रहण कर लेती है। लिहाजा एक बात तो यहां स्पष्ट हो जाती है कि कला समीक्षा को किसी भी तरह से 'हल्की' या 'आसान' विधा के रूप में नहीं देखा जा सकता। यह पर्याप्त गंभीरता, अध्ययन और परिश्रम की मांग करता है। यह दोहरी जिम्मेदारी का काम है। समीक्षक की पहली जिम्मेदारी अपने उस पाठक के प्रति होती है, जिसके लिए वह लिख रहा है-किसी भी फिल्म, नाट्य प्रस्तुति या कलाकृति के आस्वादन से लेकर उसके बारे में कोई राय कायम करने में समीक्षक ही मध्यस्थता की भूमिका निभाता है। दूसरी जिम्मेदारी उस रचनाकार के प्रति बनती है जिसकी कृति की वह समीक्षा कर रहा है। इसमें उस कृति को सही परिप्रेक्ष्य में समझना, उसके साथ न्याय करना और उसे अन्य समकालीन कलाकृतियों या रचनाओं के बीच उचित स्थान दिलाने की कोशिश करना भी शामिल है। तीसरी और सबसे बड़ी सामाजिक जिम्मेदारी यह है कि हम कलाकृति के माध्यम से किन प्रवृतियों को प्रोत्साहित कर रहे हैं, हम परंपरागत शैलियों और कथ्य की जकड़बंदी में कहीं किसी 'क्रांतिकारी' रचना को नजरअंदाज तो नहीं कर रहे, या फिर 'नएपन' का भ्रम रचकर धोखा देने वाली रचनाओं के जाल में तो नहीं फंस रहे हैं।

18.4 कला समीक्षा के लिए आवश्यक पृष्ठभूमि

अखबारों में आम तौर पर सिनेमा, रंगमंच और चित्र और शिल्प प्रदर्शनियों को ही प्रमुखता से जगह मिलती है। शास्त्रीय संगीत और नृत्य पर रिपोर्ट भी कुछ अखबार छापते हैं, जिनमें हिन्दी के 'जनसत्ता', 'दैनिक हिन्दुस्तान' तथा अंग्रेजी का 'द हिन्दू' प्रमुख है। यह माना जाता है कि कला दृष्टि एक है और सभी विधाओं में सतत मौजूद है। एक हद तक इसे मानते हुए भी यह कहना अनिवार्य है कि किसी भी विधा की समीक्षा से पहले उसके इतिहास, प्रमुख प्रवृतियों और समकालीन रूझानों का पर्याप्त अध्ययन कर लिया जाए। इसके बिना अच्छी समीक्षा की कल्पना नहीं की जा सकती। मगर यहां हम ध्यान दिलाना चाहेंगे कि सिनेमा, थिएटर और आर्ट की 'पृष्ठभूमि' भर एक अच्छी समीक्षा लिखने में मदद नहीं कर सकती। इसके लिए वह 'दृष्टि' आवश्यक है, जिसकी मदद से आप किसी भी कला माध्यम में प्रस्तुत की गई रचना का सामान्यीकरण करते हुए अपने पाठकों तक उसकी बात को पहुंचा सकें। उदाहरण देखें-

'राशोमोन' में कुल चार पात्र हैं। एक समूराई यानी जापानी योद्धा, उसकी पत्नी, एक डाकू और एक लकड़हारा। एक ही घटना को चारों लोग अपने-अपने दृष्टिकोण से बताते हैं और चारों की कहानी सच भी लगती है। लेकिन दर्शक को अंत तक यह पता नहीं लगता कि दरअसल हुआ क्या था। कुरोसावा घटनाक्रम को हर बार इस तरह दर्शाते हैं कि एक सस्पेंस बना रहता है कि आगे क्या होने वाला है। लेकिन असल में वे कहना यह चाहते हैं कि सत्य एकमुखी नहीं, बहुमुखी है और यही दार्शनिक प्रश्न 'राशोमोन' को अद्‌तीय फिल्म बना देता है।

कुरोसावा के सपने (के. बिक्रम सिंह, जनसत्ता, 28 सितंबर 2003)

18.5 कला समीक्षा के क्षेत्र

जैसा कि हमने ऊपर कहा, अखबारों में छपने वाली कला समीक्षा मुख्य रूप से फिल्म, रंगमंच और कला प्रदर्शनियों को केंद्र में रखती है। वैसे तो इसमें लोक कलाएं, स्थापत्य, भित्ति-चित्र, स्वांग, समूह नृत्य, रीति-रिवाज आदि को भी शामिल किया जा सकता है, मगर यहां हम इन्हीं तीन विधाओं और इन पर लिखी जाने वाली समीक्षा की विस्तार से चर्चा करेंगे। शहरी जीवन में इन्हीं तीन विधाओं में होने वाली गतिविधियों की ही प्रमुखता होती है। जहां कहीं भी हम सामान्य रूप से 'कला', 'कलाकार', 'रचना', 'सर्जक' जैसी शब्दावली का इस्तेमाल करेंगे तो उसका आशय व्यापक होगा और वह इन तीनों प्रमुख विधाओं को समेटे हुए होगा।

18.5.1 रंगमंच

रंगमंचीय प्रस्तुतियां किसी भी समीक्षक के लिए बड़ी चुनौती हैं। इस विधा में सबसे ज्यादा प्रयोग होते हैं और इसमें विश्लेषण की काफी संभावनाएं होती हैं। यह विधा एक साथ 'शास्त्रीय' और 'आधुनिक' है। इसकी व्याख्या के विविध पहलू हैं। मसलन, नाट्य लेखन, अभिनय, मंच सज्जा, निर्देशन, भाषा, वेशभूषा, संवाद अदायगी, प्रकाश व्यवस्था, संगीत, कलाकारों का मेकअप आदि। इसके लिए यह आवश्यक है कि रंगमंच के बुनियादी पहलुओं का ज्ञान हासिल किया जाए। साथ ही निरंतर हो रहे परिवर्तनों से अवगत होना भी बहुत जरूरी है। मौजूदा दौर के रंगकर्म का विश्लेषण करते हुए जानेमाने रंगकर्मी देवेंद्र राज अंकुर 'जनसत्ता' में प्रकाशित अपने आलेख 'नाट्य रचना' के बदलते तेवर में लिखते हैं:

'उन्नीसवीं-बीसवीं सदी में यदि ज्यादातर नाटक सिर्फ गद्य में लिखे गए और लिखे जा रहे हैं तो उसके लिए पिछली दो-तीन शताब्दियों में हुई तकनीकी और वैज्ञानिक क्रांतियां जिम्मेवार हैं। नई-नई खोजों और आविष्कारों ने जहां मनुष्य की सोच, शिक्षा-दीक्षा और रहन-सहन को प्रभावित किया वहीं उसके संप्रेषण के लिए एक नई भाषा की आवश्यकता पर भी बल दिया।

अब उसका काम सपनों, आदर्शों और फंतासी से जुड़ी काव्य भाषा से चलने वाला नहीं था, उसे चाहिए थी एक ऐसी भाषा जो उसे जीवन के दिन-प्रतिदिन के रूखे-सूखे, कटु-मीठे यथार्थ से परिचित करा सके। ऐसा नहीं कि उस यथार्थ का सामना कविता में नहीं किया जा सकता। लेकिन जिस तरह के यथार्थवादी अभिनय पर वर्तमान दौर में जोर दिया जा रहा है उसके लिए कविता से अधिक गद्य ही ज्यादा उपयुक्त है।'

इस तरह देखें तो सिर्फ रंगमंच या नाट्य शास्त्र की बुनियादी बातें ही नहीं उनमें आ रहे बदलावों तथा प्रवृतियों में हो रही तब्दीली पर भी निगाह रखनी होगी। तभी एक साथर्क रंग समीक्षा लिखी जा सकती है। इसके लिए राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय से प्रकाशित होने वाली पुस्तकों, वहीं से प्रकाशित पत्रिका 'रंग-प्रसंग' और नेमिचंद्र जैन के संपादन में निकले 'नटरंग' के पुराने अंकों से काफी मदद मिल सकती है।

18.5.2 सिनेमा

सिनेमा विश्व की सबसे 'लोकप्रिय' विधा है। न सिर्फ अपनी संप्रेषणीयता में बल्कि यह मीडिया के भी आकर्षण का केंद्र बना रहता है। प्रदर्शित होने वाली फिल्मों की समीक्षाओं से लेकर फिल्म समारोहों की रिपोर्ट, आने वाली फिल्मों की जानकारी और फिल्मों पर उठे विवाद तक अखबारों में छाए रहते हैं। हाल के वर्षों में फिल्म चर्चा की मौजूदगी अखबारों में पहले से ज्यादा हुई है। इस लिहाज से समाचारपत्रों में सिनेमा के विशेषज्ञों का महत्व बढ़ा है। एक अच्छा फिल्म समीक्षक सिर्फ 'रिव्यू' भर प्रस्तुत करके नहीं रह जाता, बल्कि वह अपने पाठकों को सिनेमा विधा के नए पहलुओं से भी अवगत कराता है। आगे दिए उदाहरण यह बात और स्पष्ट हो जाएगी-

ईरान का मखमलबाफ परिवार विश्व सिनेमा का अनोखा परिवार है। सिनेफैन में ट्रिब्यूट खंड में इस परिवार पर फोकस किया गया है। मोहसिन मखमलबाफ और उनकी बेटी समीरा आज अंतर्राष्ट्रीय सिनेमा के चर्चित नाम हैं। समीरा की 2000 में बनी फिल्म 'द ब्लैकबोर्ड' एक समकालीन कालजयी फिल्म मानी जाती है। 19 साल की उम्र में अपनी पहली फीचर फिल्म 'द एप्पल' बनाने वाली समीरा कई चर्चित फिल्में बना चुकी हैं। अब्बास कियारोस्तायी सरीखे निर्देशकों ने बरसों पहले ईरानी सिनेमा के गहरे मानवतावाद पर फोकस किया था। उसके बाद ईरानी सिनेमा के बच्चे, बूढ़े, स्त्रियां, उजाड़ और जर्जर लैंडस्केप विश्व सिनेमा की अद्भुत धरोहर बन गए हैं। किसी भी देश के सिनेमा ने शायद बच्चों की मदद से इतनी 'बड़ी' बातें नहीं कही हैं।

खामोश पानी और उसका शोर (विनोद भारद्वाज, रंग प्रसंग, अक्तूबर-दिसंबर 2004)

18.5.3 कला प्रदर्शनी

'प्रदर्शनी में कांडिंस्की, कुपका, फ्रांसिस पिकाबिया, पॉल क्ले, मौंद्रियान, मार्सेल दूशां, जॉन केज जैसे दिग्गजों का काम एक सिलसिले से देखने का सुख सचमुच दीप्त था। कई कृतियां जब एक थीम के इर्द-गिर्द संयोजित की जाती हैं तो उनके कुछ नए अर्थ प्रसंगांतर से खुलने लगते हैं। यह बात आम तौर पर ध्यान में नहीं आती कि नाद और संगीत आधुनिक कला के स्थायी सरोकार रहे हैं। प्रदर्शनी में जहां-तहां कलाकारों की कुछ उक्तियां भी उद्धृत थीं। दो मैंने विशेष रूप से नोट कीं। पहली है जॉन केज की- 'मेरे पास कहने को कुछ नहीं है और मैं यह कह रहा हूं।' दूसरी के रचयिता का नाम ध्यान से उड़ गया है, पर उक्ति यों है: 'प्राणघाती कुकुरमुत्ते होते हैं, लेकिन कोई भी आवाज प्राणघाती नहीं होती।'

नाद बिंब की आधुनिकता (अशोक वाजपेयी 'जनसत्ता' अपने स्तंभ कभी-कभार में)

हिन्दी के जाने-माने कवि तथा आलोचक अशोक वाजपेयी के स्तंभ से लिया गया उपरोक्त उदाहरण कला समीक्षा के कई पहलू आपके सामने खोलता है। अब तक आपके सामने यह तो

स्पष्ट हो गया कि कला प्रस्तुतियों को सिर्फ 'रिपोर्ट' नहीं किया जा सकता है। सिर्फ तथ्यों को जस का तस रख देने पर आपका लेखन उबाऊ हो जाएगा और उसमें पाठकों को कोई दिलचस्पी नहीं होगी। इस लिहाज से कला समीक्षाओं में खुद का 'पर्यवेक्षण' ही काम आता है। इसके लिए यह आवश्यक है कि समीक्षक के पास अपनी जानकारी तथा पहले के कला अनुभवों से तुलनात्मक विश्लेषण की क्षमता हो। साथ ही यह भी जरूरी है कि आप समीक्षित कलाकृति को उसके सारे संदर्भों के साथ ग्रहण कर सकें। सूचनाओं की मदद से समीक्षा लिखी जा सकती है मगर उसे दिलचस्प और पठनीय बनाने के लिए अपनी अंतर्दृष्टि काम में लानी होगी।

18.6 कला समीक्षा के विविध पक्ष

अब तक आपको यह अंदाजा हो गया होगा कि कला समीक्षा किसी भी अन्य अखबारी लेखन के मुकाबले ज्यादा मुश्किल और परिश्रम की मांग करने वाली विधा है, बशर्ते कि इसे गंभीरता से लिया जाए। एक अच्छी कला समीक्षा के लिए आपको संबंधित विषय की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि, उसकी बदलती वैचारिक प्रवृतियों और कलाकारों की सोच के संपर्क में रहना होगा। विभिन्न कला विधाओं जैसे सिनेमा, रंगमंच और फाइन आर्ट की प्रस्तुतियों से सीधे रू-ब-रू होते हुए उन पर नोट्स तैयार करना भी काफी मदद कर सकता है। अखबारों और पत्रिकाओं में छपने वाली श्रेष्ठ समीक्षाओं को पढ़ते रहना भी जरूरी है। इससे समीक्षा के क्षेत्र में आने वाली नई प्रवृतियों का पता लगता है।

18.6.1 रंगकर्मः आवश्यक पृष्ठभूमि

नाट्य प्रस्तुतियों की समीक्षा लिखना इसकी व्यापकता के कारण कठिन साबित होता है। आवश्यक पृष्ठभूमि के तौर पर हम भारतीय और पश्चिमी रंगदर्शन के अध्ययन का सुझाव दे सकते हैं, परंतु भारतीय रंग प्रस्तुतियों में पश्चिम के मुकाबले काफी विविधता है, इसे समझे बिना अच्छी समीक्षा नहीं तैयार की जा सकती। इस विविधता को हम भरतमुनि के 'नाट्यशास्त्र' से लेकर विभिन्न क्षेत्रों की लोक शैलियों और आधुनिक प्रयोगों तक में देख सकते हैं। इस लिहाज से रंगमंच की 'क्लासिक' अवधारणा के साथ विभिन्न भारतीय रंगमंच की शैलियों की जानकारी लेना भी बेहतर होगा। आगे दिए उदाहरण से भारतीय रंगमंच में विविधता की बात आपके सामने और स्पष्ट होगी-

जो लोग एकल को एक आयातित नाट्य विधा मानकर यहां की जड़ों से काटना चाहते हैं उन्हें जरा परिश्रम करके यहां की समृद्ध परंपराओं के अंदर झांकने की जरूरत है। बिहार और उत्तर प्रदेश के गांवों में 'बहुरूपिया' खेल न जाने कितने वर्षों से आज भी किसी न किसी रूप में जिंदा है। मध्य प्रदेश की पंडवानी शैली में अभिनय करने वाला कलाकार इकलौता होता है। केवल हाथ में थामे कोई पारंपरिक वाद्ययंत्र और पीछे पंक्तिबद्ध बैठे कोरस के गायन-वादन के सहारे महाभारत, रामायण या दूसरे धार्मिक आख्यानों को गा-गाकर, बीच-बीच में संवाद बोलकर तो कभी आंगिक अभिनय कर हजारों दर्शकों के बीच इतने प्रभावशाली ढंग से रखता है कि दर्शक कई दिनों तक, रात में, लगातार सुनते रहते हैं। ऐसी ही परंपरा राजस्थान की बातपोश, पाबू की फड़, गुजरात ही आख्यान शैली और बुंदेलखण्ड की लोकप्रिय वाचन और गायन शैली आल्हा-ऊदल है।

राजेश कुमार ('पांच एकल' की भूमिका से)

इसी तरह से देखें तो पश्चिमी रंगदर्शन को समझे बिना रंगमंच के तमाम आधुनिक प्रयोगों को नहीं समझा जा सकता। 'एब्सर्ड थिएटर' की अवधारणा पश्चिम से आई है और भारतीय रंग प्रस्तुतियों में खासी लोकप्रिय है। यहां हम यह स्पष्ट कर देना चाहते है कि रंगमंच से संबंधित जानकारी या आवश्यक पृष्ठभूमि का जिक्र करने से यह आशय नहीं है कि इतना विशद अध्ययन किए बगैर नाट्य समीक्षा की ही नहीं जा सकती, बल्कि हमारा यह सुझाव है कि रंग समीक्षा के

क्षेत्र में अपनी दिलचस्पी को देखते हुए इस दिशा में लगातार और ज्ञान हासिल करते रहना बेहतर होगा। इसके लिए 'क्लासिक' भारतीय और पश्चिमी रंगमंच की अवधारणा, भारतीय और पश्चिमी नाट्यशास्त्र, यथार्थवादी नाटक, ब्रेष्ट के 'एलिएनेशन प्रभाव' की अवधारणा, बैकेट का 'एब्सर्ड थिएटर', एकल और मूक प्रस्तुति, विभिन्न नाटककारों तथा चर्चित नाटकों के बारे में जानकारी का एक छोटा 'पैकेज' तैयार किया जा सकता है। इससे नि:संदेह आपको बेहतर लेखन में मदद मिलेगी।

18.6.2 रंगमंच पर समीक्षा की विशेषताएं

पहली शर्त तो यह कि नाट्य समीक्षा बहुत दुरूह, क्लिष्ट और उलझाव भरी नहीं होनी चाहिए, बल्कि इस तरह लिखी जानी चाहिए कि जटिल रंग-प्रस्तुतियों को उनके संकेतों से अर्थ ग्रहण करते हुए पाठकों के लिए खोला जा सके। समीक्षा पढ़ने के बाद प्रस्तुति को समझने और उसका मूल अर्थ ग्रहण करने में आसानी हो। इसके लिए आवश्यक है कि किसी भी नाट्य प्रस्तुति से पहले उसके बारे में निर्देशकीय या लेखकीय वक्तव्य (यदि होता है) को ध्यान से सुना जाए और उस पर नोट्स तैयार किया जाएं। आम तौर पर प्रस्तुति के समय नाटक के बारे में आवश्यक सूचनाओं का एक 'ब्रोशर' भी दिया जाता है, जिससे काफी तथ्यात्मक जानकारी मिलती है। इसके बावजूद यदि कोई दुविधा रहती है कि नाटक से जुड़े लोगों, कलाकारों और मुख्य रूप से निर्देशक से संक्षिप्त बातचीत से काफी मदद मिलती है।

इस अतिरिक्त जानकारी के अलावा नाटक की प्रस्तुति के दौरान काफी सजगता की आवश्यकता है। समीक्षक को यह हमेशा ध्यान रखना चाहिए कि कोई भी नाटक अपनी समग्रता में कैसा प्रभाव छोड़ता है। यह प्रभाव ही किसी प्रस्तुति की सफलता और असफलता को तय करता है। तकनीकी दृष्टि से बहुत श्रेष्ठ प्रस्तुति भी इस समग्रता के अभाव में विफल हो सकती है। इसके बाद हम उन तकनीकी बारीकियों में जाएंगे, जो रंगमंच का आवश्यक उपकरण हैं। इसे नाटक देखते वक्त ही संक्षिप्त टिप्पणी के रूप में दर्ज करना बेहतर होता है, ताकि बाद में वह विस्मृत न हो। इसमें प्रकाश संयोजन, पार्श्व संगीत, मंच सज्जा, पात्रों की वेशभूषा, ध्वनि प्रभाव आदि शामिल हैं। और अंत में चूंकि थिएटर मूल रूप से अभिनेता का माध्यम है, लिहाजा अभिनय पर विशेष ध्यान देने की जरूरत है। अभिनेता किस हद तक अपने पात्र को मंच पर सजीव कर सका, वह पात्र में निहित विडंबना, छल, करुणा को कितना उजागर कर सका और वाचिक और आंगिक अभिनय से कितना प्रभाव छोड़ने में सफल रहा। आगे हम एक नाट्य प्रस्तुति पर लिखी गई समीक्षा को प्रस्तुत कर रहे है। इससे आपको रंग-समीक्षा के विन्यास को समझने में मदद मिलेगी-

सुरेश भारद्वाज निर्देशित 'अक्स' की प्रस्तुति 'और अगले साल' एक विवाहेतर संबंध की कहानी है। विवाहेतर संबंध जिस विभाजित मन: स्थिति को जन्म देता है, उस विभाजन के सच का पाठ। इस सच तक पहुचने के लिए यह पाठ नैतिकता और अनैतिकता के द्वंद्व और दुनियावी जवाबदेहियों और व्यक्तिगत भावावेग के बीच के असमंजस को सामने लाता है। इस कहानी के दोनों पात्रों-प्रोफेसर रवि और पूजा-में कभी प्यार था जो विवाह के निष्कर्ष तक नहीं पहुच पाया। सालों बाद एक रोज जब अचानक उसकी मुलाकात कहीं हुई, तब तक वे विवाहित होकर तीन-तीन बच्चों के मां और पिता हो चुके थे। इस अचानक हुई मुलाकात में उन्होंने तय किया कि वे हर साल एक तय रोज एक तय जगह मिला करेगें। यह नाटक इन्हीं कई मुलाकातों के दृश्यों का एक वृत्त है। इस तरह मंच की प्राय: एक ही सेटिंग में दो पात्रों की मार्फत हम एक संबंध की भीतरी दुनिया को देख सकते हैं। इस संबंध की पेचीदगी सिर्फ दुनियावी उलझनों के कारण नहीं है, बल्कि उसमें दो तरह की वैयक्तिकताओं के आग्रह भी शरीक हैं।

ये दो वैयक्तिकताएं ही हैं जो दो चरित्र बनाती हैं और एक बहस। पुरुष को यह संबंध कभी अनैतिक लगता है, कभी पाप। पर स्त्री इस बोध से उबर चुकी है। वह इस संबंध के तर्क और उसमें अपनी भूमिका को लेकर अधिक स्थिर है। इसीलिए वह प्रोफेसर के विवाह प्रस्ताव को भी ठुकरा देती है। प्रोफेसर हर बार इस संबंध के नए तर्क गढ़ता है और फिर भी विचलित रहता

है। पूजा को इस संबंध में पहली बार हुए सेक्स ने जरूर ग्लानि दी थी, पर फिर सेक्स उसके लिए कहीं कम महत्वपूर्ण रह गया। एक अर्थ में प्रोफेसर रवि का चरित्र जो सवाल खड़े करता है, पूजा का चरित्र उनके जवाब देता है।

बर्नार्ड स्लाड के नाटक 'सेम टाइम नेक्सट इयर' पर आधारित जावेद सिद्दीकी का यह नाटक संबंध में उसकी भावनात्मकता को प्रमुख तत्व के रूप में पहचानता है। यह चीज उससे जुड़े खटरागों या द्वंद्व को ज्यादा प्रामाणिक बनाती है। पूजा की भूमिका में हरविंदर कौर ने प्रौढ़ उम्र के प्रेम की बहुत कुशल और सूक्ष्म अभिव्यक्तियां प्रस्तुति में दी हैं। उनकी अभिव्यक्तियों में बेबाकी या उदासी की सहजता देखने लायक थी। प्रोफेसर बने रमेश मनचंदा के अभिनय में ये बारीकियां तो नहीं थीं, पर उनकी देहभाषा कुल मिलाकर किरदार के अनुरूप थी।

मंच सज्जा की डिजाइन में स्पेस का बहुत इस्तेमाल प्रस्तुति में था। उसके विन्यास के स्थान-संकेत प्रकाश योजना के सहयोग से स्थितियों को एक सटीक आयाम देने वाले थे। मंच का यह कुल डिजाइन कथ्य को अपने तईं पर्याप्त सघन और तनावपूर्ण बनाने वाला था।

प्रस्तुति के पूर्वार्ध में जहां वैयक्तिकताओं के प्रसंग ही ज्यादा महतवपूर्ण हैं, वहीं उत्तरार्ध को दोनों पात्रों की पारिवारिकता और उम्र के प्रसंग गति और वैदिध्य देते हैं। नाटक में यह रिश्ता करीब तीस साल तक चलता है। यह 'लंबा दौर' सारी जटिलताओं के बरक्स इस संबंध की संवेदनात्मक गहनता को क्रमशः और गाढ़ा बनाता है। बाद के हिस्से में अपने वैवाहिक साथियों की मृत्यु के बाद बुजुर्ग हो चुके दोनों पात्रों की बातचीत निश्चित ही इस क्रम में एक अविस्मरणीय दृश्य था।

संगम पांडेय, एक रिश्ते का द्वंद्व (जनसत्ता, 15 फरवरी 2004)

18.6.3 सिनेमा: आवश्यक पृष्ठभूमि

सिनेमा में सबसे ज्यादा महत्त्व तकनीकी और उसके सामाजिक संदर्भों का है। सिनेमा अपने में कई कलाओं को समेटे हुए है और फिर भी एक स्वतंत्र विधा है। इसमें साहित्य, थियेटर, चित्रकला और फोटोग्राफी तक शामिल है। छायांकन सिनेमा विधा का सबसे महत्वपूर्ण अंग है। सिनेमैटोग्राफी को समझना दरअसल इस विधा के व्याकरण को समझना है। कुंवर जी अग्रवाल अपने आलेख 'फिल्म माध्यम का व्याकरण' में लिखतें हैं--

'जिस प्रकार अर्थ की दृष्टि से भाषा की सबसे महत्वपूर्ण इकाई वाक्य है, उसी प्रकार फिल्म की सबसे महत्वपूर्ण प्राथमिक इकाई शॉट है। शॉट का अर्थ है किसी स्थिति का बिना किसी व्यवधान के और बिना कैमरे का स्थान बदले लगातार किया गया छायांकन। एक शॉट किसी स्थिति का ध्वनि और गति के साथ प्रस्तुत चित्र है। इसके द्वारा चित्रात्मक बिंबों की एक इकाई उसी प्रकार पूरी होती है जिस प्रकार भाषा में एक वाक्य द्वारा। जिस प्रकार वाक्य छोटे-बड़े हो सकते हैं उसी प्रकार शॉट भी छोटे-बड़े हो सकते हैं। जिस प्रकार एक वाक्य दूसरे वाक्य से जुड़ा होता है, उसी तरह शॉट भी एक दूसरे से जुड़े होते हैं। फिल्म में जीवनकथा इन शॉटों के लंबे क्रम द्वारा प्रस्तुत होती है। यहां पर फिल्म की तुलना पुरानी चित्रकथाओं से कुछ दूर तक की जा सकती है। अजंता की गुफाओं में जातक की कथाओं को चित्रों द्वारा प्रस्तुत किया गया था।'

कुंवर जी अग्रवाल (फिल्म माध्यम का व्याकरण, रंग प्रसंग, अप्रैल-जून 2005)

इस व्याकरण को समझने के बाद हम बहुत आसानी से फिल्म के अन्य संकेतों, दृश्यों और निर्देशकीय कौशल को 'पढ़ने' की समझ विकसित कर सकते हैं। एक बड़ा निर्देशक सिनेमा की भाषा नए सिरे से गढ़ने का प्रयास करता है या उसकी भाषा में सर्जनात्मक तोड़फोड़ करता है। दरअसल हर फिल्म निर्देशक की एक विशिष्ट शैली होती है। उसके खास तेवर को फिल्म के छायांकन, विशिष्ट वातावरण का सृजन, कुछ खास बिंबों के प्रति निर्देशक के 'ऑब्सेशन' या

विशेष आग्रहों, निर्देशक के स्पष्ट रूप से झलकने वाले या कथ्य की संरचना में अंतर्निहित सामाजिक सरोकारों में पहचाना जा सकता है। लगभग सभी बड़े निर्देशकों ने अपने सामाजिक सरोकारों और फिल्मांकन की खास शैली से पहचान बनाई है। यहां विश्व सिनेमा में अपनी खास पहचान बनाने वाले स्वीडेन के निर्देशक इंगमार बर्गमैन की विशिष्ट शैली को हम बतौर उदाहरण समझ सकते हैं-

तीस वर्षों में, कई फिल्मों में बर्गमैन ने रंगमंच की तकनीकों का इस्तेमाल किया और उन्हें सिनेमाई भाषा में कथा कहने में भरपूर प्रयोग किया। 'स्माइल्स ऑफ ए समरनाइट' में उन्होंने प्रेम की उथल-पुथल और बदलती परिस्थितियों में बदलते आपसी संबंधों को दिखाने और मुश्किल मनोवैज्ञानिक स्थितियों को दिखाने के लिए नाटकीय कौशल का सहारा लिया। निर्णायक क्षणों में नाटकीय तत्वों का समावेश करके वे उसे गहरी अर्थवत्ता दे देते हैं। उनको पहचान दिलाने वाली फिल्म 'द सेवंथ सील' में मध्ययुगीन स्वीडन में प्लेग फैला हुआ है। इसमें भी उन्होंने नाटकीय कौशल का भरपूर परिचय दिया है। हालांकि फिल्म में दो जबरदस्त हिला देने वाले दृश्य हैं, एक मध्यांतर से पहले का और दूसरा अंत में, लेकिन काले कपड़ों में मौत का जो नाच पीछे चल रहा है और राजा शतरंज खेल रहा है, अपनी जिंदगी दांव पर लगा रहा है- ऐसे दृश्य हैं जिन्हें लोग भूल नहीं सकते। अब भी याद करते हैं।

पार्थ चटर्जी ('जब दोनों निकट आते हैं', रंग प्रसंग, अप्रैल-जून 2005)

18.6.4 सिनेमा पर लेखन की विशेषताएं

फिल्म समीक्षा के दौरान जिन दो बिंदुओं पर खास 'फोकस' की जरूरत है, वह है- पठनीयता और विश्लेषण।यह भी ध्यान देने की जरूरत है कि बीते कई वर्षों में सिनेमा पर आलोचनात्मक लेखन अपनी सीमाएं पार करता हुआ राजनीतिशास्त्र, समाजशास्त्र और मानवविज्ञान के क्षेत्र में प्रवेश कर चुका है। इस दिशा में काफी गंभीर प्रयास हो चुके हैं और सिनेमा पर विभिन्न दृष्टिकोंणों से तैयार कई महत्वपूर्ण किताबें भी सामने आ चुकी हैं। इस किस्म के तमाम आलोचनात्मक प्रयासों से अवगत हो पाना तो संभव नहीं है, मगर सिनेमा में दिलचस्पी रखने वाले समीक्षक के लिए बेहतर होगा कि वह सिनेमा लेखन के गंभीर और अकादमिक पक्ष की भी थोड़ी-बहुत समझ विकसित कर सके।

सिनेमा पर समीक्षात्मक लेखन सबसे पहले इस विधा के सामाजिक सरोकारों की बात करता है। कला या नाटक के मुकाबले सिनेमा की पहुँच कहीं ज्यादा व्यापक है। एक नाट्य प्रस्तुति एक बार कुछ सौ या हजार दर्शकों तक पहुंचती है। आर्ट गैलरी में लगने वाली कला प्रदर्शनियों का आस्वाद लेने वालों की संख्या भी सीमित होती है, साथ ही इन दोनों विधाओं के दर्शक एक विशिष्ट रुचि और खास वर्ग के होते हैं। सिनेमा एक साथ लाखों लोगों को और हर उम्र या वर्ग के लोगों को प्रभावित करता है। इतना ही नहीं भूमंडलीकरण के दौर में सिनेमा सीमाओं के पार भी अपनी उपस्थिति दर्ज कर रहा है।

सिनेमा को हम उसके कथानक में निहित राजनीतिक 'अंतर्धाराओं' तथा सामाजिक मूल्यों के परिप्रेक्ष्य में समझ सकते हैं। हम यह भी देख सकते हैं कि किसी फिल्म में प्रस्तुत चरित्र, वातावरण और कथानक दर्शकों पर क्या प्रभाव डालता है और उनके लिए किस 'अर्थ' का सृजन करता है। उदाहरण के लिए, गोविंद निहालानी की 'आक्रोश', 'अर्धसत्य', 'तमस' और 'देव' जैसी फिल्में तीखे राजनीतिक तेवर वाले यथार्थवादी सिनेमा का उदाहरण हैं। विमल राय की 'सुजाता' और 'दो बीघा जमीन' तथा वी.शांताराम की 'दुनिया न माने ' सामाजिक विडंबनाओं को सामने रखने वाली फिल्में हैं। राजकपूर की 'आवारा', 'श्री चार सौ बीस' और 'जागते रहो' रूमानी समाजवादी आशाओं से भरी फिल्में थीं। वहीं गुरुदत्त की 'प्यासा', 'कागज के फूल' तथा 'साहब, बीबी और गुलाम' मोहभंग और निराशा के दौर को चित्रित करती हैं। फिल्म के कथानक और उसकी प्रस्तुति में किस तरह से निर्देशक के नजरिए की व्याख्या की जा सकती है, इसे हम आगे

दिए उदाहरण से समझ सकते हैं-

'श्री चार सौ बीस' की टीचर विद्या आजादी के बाद, आजादी के पहले की आर्दशवादी-गांधीवादी महिला है। निहायत ही जानलेवा गरीबी भी उसको नहीं तोड़ सकती। नायक कस्बेनुमा शहर से आया है और महानगर की चकाचौंध में उसके जीवन मूल्य खो गए हैं। बेइमानी के पैसे से वह अपना ईमानदारी का मेडल रद्दी वाले के यहाँ से छुड़ा सकता है। शराब से ज्यादा कामयाबी के नशे में धुत नायक पूंजीवादी मुखौटों को तोड़ देता है, 'गरीब से कहते हैं रूखी-सूखी खाकर जिंदा रहो... ईमानदारी का उपदेश हमेशा गरीब के लिए ही क्यों ? दया, धर्म, पवित्रता के घोंसले से बाहर आकर देखो-दुनिया सोने की चिड़िया का नाम है।' वह नोटों का ढेर लगाता है और नायिका जीवन और दौलत की क्षणभंगुरता की बात करती है, 'किस्मत की आंधी इन टुकड़ों को बहा ले जाएगी और तुम बेईमानी के कीचड़ में धंसते चले जाओगे-मैं इस अपराध में तुम्हारा साथ नहीं दूंगी।' 'आवारा' की रीता की तरह 'श्री चार सौ बीस' की विद्या भी नायक को अपराध के दलदल से निकलने की प्रेरणा देती है। आवारा में नायिका, नायक के युद्ध में शामिल है और लड़ती भी है, परंतु 'श्री चार सौ बीस' में वह प्रेरणा देते हुए स्वयं नहीं लड़ती, क्योंकि मास्टर सैनिक तैयार कर सकते हैं, खुद तलवार लेकर लड़ने नहीं जाते। विद्या नाराज होने से ज्यादा दुखी है।

(जयप्रकाश चौकसे की पुस्तक 'राजकपूर' से।)

18.6.5 कला समीक्षा: आवश्यक पृष्ठभूमि

कला समीक्षा दरअसल कला जगत की विभिन्न शैलियों, उनमें हो रहे प्रयोगों, कला के इतिहास से मौजूदा सर्जकों की मुठभेड़ और अपने समय पर टिप्पणियों को प्रस्तुत करती है। यही समीक्षा की आवश्यक पृष्ठभूमि भी है। किसी भी प्रस्तुति को हम कला इतिहास के आइने में ही समझ सकते हैं। यहां इस बात का भी ध्यान रखना होगा कि चित्रकला या मूर्तिशिल्प सिनेमा या रंगमंच के मुकाबले ज्यादा निजी विधा है, यानी कविता और उपन्यास के ज्यादा करीब। विश्व के महान कलाकारों को समझने के लिए उनकी निजी सोच और जिदंगी को समझना भी जरूरी हो जाता हैं। माधुरी पुरंदरे अपनी पुस्तक 'पिकासो' में लिखती हैं-

उसकी चित्रकारी में सब था। प्रकृति चित्रण, स्थिर चित्र, व्यक्ति चित्र, व्यंग चित्र। परंतु उसका प्रमुख चित्र विषय था आदमी, और अंत तक यही विषय प्रमुख रहा। उसके अलबम में मां, पिता और बहनों के असंख्य चित्र मिलते हैं। आजकल जिस तरह बच्चों में कैमरे में सब कुछ समा लेने की इच्छा होती है, उसी तरह उसने भी सामने जो दिखा, उसे कलम से खींच-खांच डाला था। उसमें कहीं उपहास तो कहीं विनोद व्यक्त होता है। बूढ़ों के तो उसने असंख्य चित्र बनाए। वृद्धावस्था, मृत्यु के प्रति भय, दरिद्रता और दुख के प्रति करुणा और आस्था भाव के संकेत उस उम्र में भी उसके चित्रों में दिखाई दे रहे थे। इस उम्र के बालक का फूलों-पत्तियों, चांद और सूरज की आकृति की बजाय ऐसे विषयों की ओर मुड़ना एक आश्चर्य ही था।

इस तरह देखें तो किसी कलाकृति को कलाकार के निजी संदर्भों से अर्थग्रहण किए बिना आसानी से नहीं समझा जा सकता। आधुनिक भारतीय चित्रकला और मूर्तिशिल्प ने अपना मौजूदा स्वरूप कई स्रोतों से ग्रहण किया है। इसमें पश्चिमी चित्रकला के साथ-साथ कला के प्रति विकसित होती भारतीय सोच का भी खासा योगदान है। यहां यह ध्यान देने योग्य बात है कि अक्सर लोग किसी कला प्रर्दशनी में कलाकार के मंतव्य या उसकी विषय वस्तु में उलझकर रह जाते हैं, नतीजे में उनके कुछ विशेष हाथ नहीं लगता। याद रखना चाहिए कि कला कभी किसी खास संदेश को संप्रेषित करने का माध्यम भर नहीं होती, यदि ऐसा हो तो किसी कलाकृति और सामाजिक सरोकारों वाले स्तरीय विज्ञान में कोई फर्क नहीं रह जाएगा। यह जरूरी है कि आप किसी भी पेंटिग या मूर्ति शिल्प में रंगों और आकृतियों के प्रति कलाकार का व्यवहार देखें। उल्लेखनीय बिंदुओं को अपनी नोटबुक में लिखते चलें। इससे अंनजाने में ही कई परतें खुलने लगेंगी। आपको यह एहसास होगा कि कैसे कोई कलाकृति अपने में सार्थक संदेश भी छिपाये होती है।

18.6.6 कला समीक्षा की विशेषताएं

जैसा कि हमने पहले स्पष्ट किया है कि किसी भी कलाकृति में रंगों, रेखाओं, आकृतियों के प्रति कलाकार का नजरिया ही सबसे ज्यादा ध्यान देने योग्य होता है। इससे आप कलाकार की विशिष्टता को पकड़ते हैं। किसी कलाकृति के प्रति पहली ही नजर में आ जाने जैसा भाव न रखें। इससे आपको निराशा तो होगी ही, साथ ही आप कला का अर्थ ग्रहण कर सकेंगे। यह ध्यान रखें कि कला में गणित की तरह एक और एक दो का तर्क नहीं होता। इसलिए दुरूह और जटिल सी दिखने वाली कलाकृतियों को देखकर भी बहुत उलझन में न पड़ें। किसी भी कलाकार की शैली की व्याख्या करने का प्रयास दरअसल एक ऐसी कुंजी हैं, जिससे अर्थ की परतें खुलती चली जाती हैं। उदाहरण के तौर पर हम 'जनसत्ता' में जतिन दास पर लिखे विनोद भारद्वाज के आलेख 'श्वेत-श्याम स्पर्श' को देख सकते हैं-

'उनकी रेखाओं की रेंज बड़ी है: वे कई रूपों वाली हैं। कुछ भरी-भरी हैं, कुछ सुतवां हैं, कुछ किसी मोटी रस्सी सरीखी हैं, कुछ तीक्ष्ण हैं, कुछ दृढ़ हैं, कुछ लचीली हैं, कुछ उछाल भरी हैं, कुछ कोमल हैं, और कुछ बलशाली हैं। वे जिन विषय वस्तुओं को घेरती हैं, उनकी रेंज भी बड़ी और विविध है। उसमें आधुनिकाएं हैं, कलाकार हैं, वनस्पतियां हैं, स्त्री-पुरुष शरीर की अनेक मुद्राए-भंगिमाएं और भावस्थितियां हैं। मित्रों की मुखाकृतियां हैं, राह चलते देख ली गई और उभार दी गई चीजें हैं। उसमें बांग्लादेशी कबाड़ीवाला है, हैदराबाद का वह श्रमिक है जो पत्थर उठाता है। कुम्हार का घर है, खजुराहों के मूर्तिशिल्प हैं, गुजरात का भूकंप है, बाली, जर्मनी और उन अन्य देशों की स्त्रियां हैं जिनकी यात्राएं जतिन ने की हैं।'

यहां गौर करने लायक बात यह है कि सिर्फ एक पैराग्राफ में समीक्षक ने जतिन दास की सबसे बड़ी विशिष्टता रेखाओं पर उनके नियंत्रण को बड़े ही सहज ढंग से रख दिया है। इतना ही नहीं, रेखाओं की विविधता से वे आकृतियों और फिर उनके रचना संसार और विषय वस्तु तक पहुँचते हैं और देखते-देखते जब आप इन वाक्यों तक पहुँचते हैं, *'वे जिन विषय वस्तुओं को घेरती हैं, उनकी रेंज भी बड़ी और विविध है। उनमें आधुनिकाएं हैं, कलाकार हैं, वनस्पतियां है, स्त्री-पुरुष शरीर की अनेक मुद्राएं-भंगिमाएं और भावस्थितियां हैं। मित्रों की मुखाकृतियां हैं, राह चलते देख ली गई, और उभार दी गई चीजें हैं, उनमें बंगलादेशी कबाड़ीवाला हैं, हैदराबाद का वह श्रमिक हैं जो पत्थर उठाता है'* तो जतिन बतौर कलाकार आपके सामने खुलने लगते हैं।

एक बार कलाकार की विषय वस्तु तक पहुंचने के बाद आपके सामने कलाकार का मंतव्य स्पष्ट हाने लगता है और फिर उसकी 'रोशनी' में दोबारा कलाकृतियों को देखने पर किसी तरह की दुविधा नहीं रहती। अक्सर कला प्रर्दशनियों में सीरीज बनाकर कलाकृतियों को प्रस्तुत करने का चलन है। इससे कलाकार के 'मूड' को पकड़ने में काफी आसानी होती है। यह सीरीज किसी खास घटना से उद्वेलित होकर तैयार की जा सकती है, किसी विषय पर काम करने के दौरान तैयार हो सकती है या फिर सिर्फ शिल्पगत बारीकियों तक भी सिमटी रह सकती है।

18.7 कला समीक्षक के लिए आवश्यक योग्यता

'दरअसल कला लेखन हो या विश्व सिनेमा पर विश्लेषणात्मक लेखन-इन सब चीजों के लिए काफी तैयारी चाहिए। लेखक के पास एक बहुत बड़ी निजी लाइब्रेरी होनी चाहिए। समकालीन भारतीय कला पर भी लिखना हो तो दुनिया भर के संग्रहालयों का सीधा अनुभव होना चाहिए। रेनेसां कला के रंग किताबों से बहुत कम समझ में आते हैं। राफेलो या तित्सियानो के लाल रंग को समझना हो तो रोम, फ्लोरेंस या वेनिस में महीनों भटकना पड़ेगा। मातीस का लाल रंग देखे-समझे बिना आधुनिक भारतीय कलाकारों के रंगो की दुनिया में आप प्रमाणिक रूप से नहीं जा पाएगें। यानी आपको खूब देखने, पढ़ने, घूमने की सुविधा चाहिए।'

कला लेखन के तर्क (विनोद भारद्वाज, जनसत्ता, 2 फरवरी, 2003)

उपरोक्त टिप्पणी आपको थोड़ा हतोत्साहित भी कर सकती है। यह संभव नहीं है कि आप रातों-रात दुनिया की सर्वश्रेष्ठ कलाकृतियों के संपर्क में आ जाएं, विश्व के बेहतरीन संग्राहलय देख डालें और कला प्रर्दशनियों में घूम आएं। किंतु एक कला समीक्षक में ऐसा करने की लालसा जरूर हो सकती है। कला के प्रति अनुराग, उत्सुकता, दुनिया का सर्वश्रेष्ठ जानने की उत्कट आकांक्षा बहुत जरूरी है। इसके बिना आप सर्वश्रेष्ठ कला और कलाकार तक नहीं पहुंच सकते। आज दुनिया बहुत छोटी हो गई है। इंटरनेट तथा सीडी रोम की मदद से बहुत कुछ आसानी से उपलब्ध है। किसी समय में अच्छी किताबों और फिल्मों के लिए तरसना पड़ता था। फ्रांसीसी सिनेमा के महान निर्देशक ज्यां लुक गोदार और फ्रांसुआ त्रुफो से लेकर भारत के सत्यजित राय तक ने उसी सिनेमा के जरिए अपनी समझ बनाई जो उन्हें सहजता से उपलब्ध था। गोदार और त्रुफो ने अल्फ्रेड हिचकाक की तमाम फिल्में देख डालीं और विश्लेषण करके एक नई सिने-भाषा को जन्म दिया।

कला के प्रति उत्कट लगाव ही आपको कलाकृतियों की ऐसी व्याख्या के लिए तैयार करता है, जैसी कि इससे पहले किसी ने नहीं की हो या इससे पहले किसी ने उस रचना से उतने अर्थ और संकेत नहीं ग्रहण किए हों। जब आप किसी भी कलाकृति से अर्थ ग्रहण करते हैं तो आपकी भाषा भी संवेदनशील और सचेत होती जाती है। यहां हम महान निर्देशक गुरुदत्त की फिल्म 'कागज के फूल' की बहुत सुदंर व्याख्या को पढ़कर इस बात को अधिक ढंग से समझ सकते हैं-

'कागज के फूल' गुरुदत्त की तकनीकी दृष्टि से सबसे महत्त्वाकांक्षापूर्ण फिल्म थी। इसे उन्होंने 'सिनेमास्कोप' के रूप में बनाया था और उसमें एक-एक दृश्य को तकनीकी दृष्टि से पूर्णत: नोक-पलक दुरुस्त रखने की चेष्टा की थी। हर दृश्य किसी महान चित्रकार की पेंटिग की तरह खुलता है। इसकी कहानी चार्ली चैपलिन की 'लाइम लाइट' से मिलती-जुलती है, जिसमें एक फिल्म निर्देशक एक बिना तराशे हुए हीरे की तरह अनगढ़ अभिनेत्री को सफलता के शिखर पर पहुंचा देता है और स्वयं गुमनामी के अंधेरे में गुम हो जाता है। संभवत: गुरुदत्त तब वहीदा रहमान को (इस फिल्म की नायिका) इसी रूप में देखते थे। यह पूरी फिल्म एक बीहड़ हताशा और डिस्पेयर की फिल्म थी। इस फिल्म की जान-गुरुदत्त की लगभग सभी फिल्मों की तरह इसका संगीत था। सचमुच इस फिल्म में संगीतकार एसडी बर्मन ने अपनी जान उड़ेल दी थी। उन्होंने भरसक अपनी संगीत दृष्टि को गुरुदत्त की जीवन दृष्टि से एकाकार कर दिया था। गीतकार कैफी आजमी ने भी निर्देशक के अपने अथाह अवसाद में डूबकर इसके गीत लिखे थे: 'वक्त ने किया क्या हँसी सितम, तुम रहे न तुम, हम रहे न हम, और 'देखी जमाने की यारी, बिछड़े सभी बारी-बारी' जैसे गीत हिन्दी फिल्मों के स्वीटेस्ट और सैडेस्ट गीत माने जाएगें। किंतु गुरुदत्त तथा उनकी टीम का यह श्रमसाध्य महत्त्वाकांक्षापूर्ण वेंचर बॉक्स ऑफिस पर घनघोर रूप से असफल रहा। फिल्म भारत के सभी शहरों पहले दूसरे हफ्ते के बाद ही पर्दे से उतर गई। गुरुदत्त मानसिक, शारीरिक तथा आर्थिक रूप से चकनाचूर हो गए। विचार किया सकता है कि 'कागज के फूल' की ऐसी 'बेजोड़ असफलता' का कारण क्या था? उसकी तमाम तकनीकी तथा संगीतिक विशेषताओं के बाबजूद ? दरअसल उसकी ये विशेषताएं ही उसकी बरबादी की कारण बनीं। औसत भारतीय फिल्म दर्शक जिस वर्ग तथा तबके से आता है वह इसकी तकनीकी सूक्ष्म, विशेषताओं तथा अर्थगर्भित सूक्ष्म व्यंजनाओं को समझने में असमर्थ था। वह सामान्यत: अपने थके तथा प्राय: स्थूल किस्म के मस्तिष्क के लिए 'पैसा वसूल' मनोरंजन चाहता था (आज भी चाहता है)। और 'कागज के फूल' उसके ठीक उलट थी। वह अत्यंत धीमी गति वाली स्टिल शॉट्स फिल्म थी। इसके आलावा फिल्म के डिस्पेयर का स्वर दर्शकों को उबाने वाला ही नहीं डिप्रेशन में डालने वाला लगा। बहुत दर्शक शायद ही अंत तक कुर्सी पर बैठे रह पाए होंगे।

विजय मोहन सिंह (ये दुनिया अगर मिल जाए तो क्या)

बोध प्रश्न/अभ्यास

1) एक अच्छी फिल्म समीक्षा की क्या विशेषताएं होनी चाहिए? विस्तृत विवेचना करें। इनमें से किसी फिल्म पर करीब दो सौ शब्दों की समीक्षा लिखें- 'मदर इंडिया', 'शोले', 'मुगले-आजम' या 'मुन्ना भाई एमबीबीएस'।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

2) मकबूल फिदा हुसेन के रेखांकन, रंगों के इस्तेमाल और उनकी थीम पर एक संक्षिप्त टिप्पणी लिखें।

.....

.....

.....

.....

.....

3) अपने शहर की किसी नाट्य प्रस्तुति में जाएं और उस पर एक संक्षिप्त रिपोर्ट तैयार करें। रिपोर्ट में नाटक की विषय वस्तु के अतिरिक्त अभिनय, निर्देशन और तकनीकी पक्षों का भी जिक्र करें।

.....

.....

.....

.....

.....

18.8 अच्छे समीक्षक के गुण

एक अच्छा समीक्षक बनने के लिए आवश्यक है कि आपके पास अच्छी संदर्भ सामग्री हो। इसके लिए अखबारों की कटिंग, लाइब्रेएरी की सदस्यता, इंटरनेट और पुस्तकों का निजी संचयन काम में आ सकता है। यह भी आवश्यक है कि आप कलाकारों के निरंतर संपर्क में रहें, इससे

उनकी बदलती सोच, मौजूदा कला जगत की प्रवृत्तियों तथा नए प्रयोगों को समझने में आसानी होती है। इससे आपकी संदर्भ सामग्री विपुल हो जाती है, जो कला समीक्षा में काफी उपयोगी साबित होती है। एक समीक्षा कई बार अपने सर्वोत्कृष्ट रूप में उतनी ही श्रेष्ठ हो सकती है, जितनी कोई रचना। उदाहरण के तौर पर, हम यहां राजकपूर की फिल्म 'श्री चार सौ बीस' के एक दृश्य की जयप्रकाश चौकसे द्वारा की गई व्याख्या को देख सकते हैं। वे लगभग फिल्मकार की मनोभूमि तक पहुचंकर चीजों को विश्लेषित करते हैं-

दरअसल 'श्री चार सौ बीस' की नायिका अनन्य प्रेमिका है- उसका पोर-पोर प्रेम रस में पगा है। इस फिल्म का गीत 'प्यार हुआ, इकरार हुआ', को दुनिया-भर के समीक्षकों ने बहुत पसंद किया है, परंतु इस गीत का वर्णन प्रोफेसर आरएस यादव 'आजातशत्रु' ने उतना ही उच्चकोटि का किया है, जितना कि राजकपूर ने इसे रचा है। यह पहला और शायद आखिरी अवसर है, जब सर्जक और समीक्षक समान ऊंचाई पर खड़े हैं। अजातशत्रु कहते हैं, 'प्यार हुआ इकरार हुआ' विश्व सिनेमा में अपना स्थान रखने वाली घटना है। उसे देखकर साफ लगता है कि राजकपूर एक संवेदनशील इंसान था और संगीत-बोध के साथ उनका दृश्य बोध एक जीनियस के रचनात्मक अवचेतन से उत्पन्न होता था। याद कीजिए बरसात, पानी के झपाटे, गीला वातावरण, बारिश में भीगते लैंप पोस्ट, चाय की केटली से निकली भाप, आग में पानी का संकेत...।

जयप्रकाश चौकसे (पुस्तक 'राजकपूर' से)

उपरोक्त उदाहरण यह बताता है कि किसी भी कलाकृति की वास्तविक व्याख्या और समीक्षा करने के लिए समीक्षक को भी उसी भाव और मनोभूमि तक पहुंचना होता है, जहां पहुंचकर कलाकार ने अपनी कलाकृति का सृजन किया है। आगे हम एक अच्छे समीक्षक के कुछ बुनियादी गुणों का जिक्र करेंगे।

18.8.1 विशेषज्ञता

अब कुछ पारसी नाटकों को आधार बनाकर इस विषय में भी गहराई से विचार किया जाए कि अपने कथ्य में भी ये साहित्यिक कहे जाने वाले नाटकों से कहां पीछे ठहरते हैं? उदाहरण के लिए, इस आलेख के शुरू में ही उल्लेखित 'रुस्तम-सोहराब' को ही ले लिया जाय तो बात स्पष्ट हो जाएगी। जानना चाहूंगा कि यह नाटक अपने जीवंत और सशक्त कथ्य और संरचना में किस 'क्लासिक' नाटक से कमतर है? रुस्तम और तहमीना दो अलग-अलग देशों के होकर भी एक दूसरे से प्यार करते हैं और विवाह कर लेते हैं। रुस्तम तहमीना के साथ कुछ दिन रहकर अपने देश ईरान लौट जाता है। सोलह-सत्रह वर्ष बाद उसका पुत्र सोहराब उसकी तलाश में पहुंच जाता है। दोनों एक दूसरे को पहचानते नहीं हैं और एक दूसरे के विराधी खेमों की तरफ से लड़ रहे हैं। अंतिम लड़ाई दोनों योद्धाओं के बीच होती है। दोनों आखिर तक एक-दूसरे का नाम जानने की कोशिश करते हैं पर असफल रहते हैं। अंतत: द्वंद्व युद्ध में रुस्तम सोहराब की हत्या कर देता है। और ठीक मरने से पहले सोहराब जब अपने बाप का नाम रुस्तम बताता है तो रुस्तम के दुख का परावार नहीं रहता। एक बड़ी क्लासिक त्रासदी के हर तत्व से परिपूर्ण इस नाटक से क्या हमें 'राजा इडिपस' और 'शाकुंतल' जैसे नाटकों की याद नहीं आती? पहचाने जाने और न पहचाने जाने का संकट, कथ्य की समकालीनता और सार्वजनिनता स्वयं में सिद्ध है। बेटे की मृत्यु पर बाप का विलाप साहित्य एवं रंगमंच के सबसे ज्यादा यादगार क्षण हैं। राम के वियोग पर दशरथ का विलाप और रुस्तम का विलाप एक ही तराजू के दो पलड़े हैं।

संबंधों का यही दोहराव सोहराब और गर्द आफरीद की प्रेम कहानी में भी मौजूद है। दो अलग-अलग देश लेकिन एक दूसरे के प्रेमी। देश को प्राथमिकता दी जाय या व्यक्तिगत प्रेम को? क्या दोनों साथ-साथ भी चल सकते हैं? इससे जटिल, संश्लिष्ट, मार्मिक हम किस और नाटकीय दुविधा की प्रतिक्षा कर रहे हैं? जयशंकर प्रसाद की कहानी 'पुरस्कार' और 'आकाशदीप' में उपस्थित नारी चरित्रों का भी क्या यही द्वंद्व नहीं? यदि हम इन्हें साहित्य की अविस्मरणीय

कहानियों में शामिल कर सकते हैं तो 'रुस्तम सोहराब', 'यहूदी की लड़की', 'खूबसुरत बला', 'वीर अभिमन्यु', 'मशरिकी हूर', और ऐसे ही अनगिनत पारसी नाटकों की साहित्यिक अवहेलना क्यों? क्या हम इस तथ्य से मुंह मोड़ सकते हैं कि जिस पारसी अभिनय शैली और रंगमंच की भारतेंदु प्रसाद और परवर्ती नाटककारों ने जी-भरकर आलोचना की उन्हीं के नाटकों में सबसे ज्यादा तत्व मिलते हैं।

पारसी नाटकों का पुनर्पाठ (देवेंद्र राज अंकुर, जनसत्ता, 28 सितंबर 2003)

देवेंद्र राज अंकुर के लेख का यह छोटा सा हिस्सा पारसी नाटक पर उनके विशद अध्ययन और उन नाटकों के प्रति बनी उनकी समझ को दर्शता है। इस अंश को दोबारा पढ़ते हुए आप इस बात पर गौर करें कि लेखक ने पारसी नाटकों के किन महत्त्वपूर्ण पहलुओं को यहां रेखांकित किया है। यह भी देखें कि किस तरह से उन्होनें 'रुस्तम-सोहराब' के कथानक का विश्लेषण किया है।

18.8.2 वस्तुनिष्ठता

यह समीक्षा का सबसे महत्त्वपूर्ण पक्ष है। यदि वस्तुनिष्ठता का निर्वाह नहीं हुआ तो समीक्षा महत्त्व खो बैठेगी। यह निष्पक्षता और वस्तुनिष्ठता ही है जो समीक्षक को ऊंचा दर्जा देती है और कलाकारों और साधारण पाठकों के बीच उसका सम्मान बनाती है। यदि लेखन में तथ्यों को तोड़-मरोड़ कर प्रस्तुत किया गया तो न सिर्फ आपका लेखन प्रभावित होगा, बल्कि एक समीक्षक के बतौर आपकी साख नहीं बन पाएगी। निष्पक्ष और सटीक टिप्पणी ही आपके भीतर सधे हुए लेखन का अनुशासन भी लाएगी। बड़े कलाकार खुद अपने सबसे बड़े आलोचक होते हैं और अपनी कमियों को समय-समय पर स्वीकार करते चलतें हैं। उदाहरण देखें--

'मृणाल सेन अपनी फिल्मों के स्वयं सबसे बड़े आलोचक हैं। जैसे, अपनी पहली फिल्म' रात भोरे' के बारे में वह बार-बार कहते हैं- 'इट वाज ए बिग डिजास्टर'। इसी तरह 'नील आकाशेर नीचे' के बारे में उन्होंने लिखा कि वह ज्यादा भावुक थी और तकनीकी दृष्टि से खराब थी। 'बाइसे श्रावण' को वह आज भी अच्छी फिल्म मानते हैं। लेकिन साफ कहते हैं कि दर्शकों ने इसे स्वीकार नहीं किया। 'भुवन शोम' में बहुत लोगों ने ऐसा समझा कि मृणाल सेन अफसरवाद का मजाक उड़ा रहें हैं। मृणाल सेन ने साफ कहा कि उनका ऐसा कोई इरादा नहीं था। उनका उद्देश्य एक हल्की-फुल्की फिल्म बनाकर आनंद लेने और बांटने का था।'

के बिक्रम सिंह (मृणाल दा, जनसत्ता, 25 मई, 2005)

18.8.3 दृष्टिसंपन्नता

यह एक बड़ा सवाल है कि किसी समीक्षा का मकसद क्या है। जाहिरा तौर पर, अच्छी समीक्षा न सिर्फ कला जगत में श्रेष्ठ मानी जाती है, उसे आम लोगों तक पहुंचाने का काम करती है, बल्कि वह एक कलाकार की रचना और समाज के बीच सीधे संवाद का माध्यम भी बनती है। अच्छी कला समीक्षाएं ही कलाकृतियों पर बहस को भी जन्म देती हैं। उदाहरण देखें-

'पहला सवाल तो यही है, क्या किसी अभिनेता या अभिनेत्री को अपनी जगह किसी 'डबल' का इस्तेमाल करने की इजाजत होनी चाहिए? मैं स्टंट दृश्यों या करतब-कलाबाजियों की बात नहीं कर रहा। अभिनय यानी कला की दुनिया में अगर कोई अभिनेत्री मानती है कि वह कुछ दृश्यों में अपनी देह को इस तरह नहीं प्रदर्शित कर सकती, जिस तरह की मांग निर्देशक के अनुसार कहानी की है, तो अन्य स्त्री की देह को उस पर दिखाने का क्या नैतिक औचित्य होगा? यदि निर्देशक यह मानता है कि वह दृश्य आपत्तिजनक या अनौचित्यपूर्ण हैं, इसलिए मूल अभिनेत्री की देह पर उनसे नहीं फिल्माया जाएगा तो उसे किसी अन्य अभिनेत्री की देह पर फिल्माने का नैतिक या कलागत तर्क क्या है? यदि उन दृश्यों का कोई कलात्मक महत्व या अनिवार्यता है तो उसमें वास्तविक अभिनेता-अभिनत्री को ही होना चाहिए और यदि कोई कलागत अनिवार्यता नहीं

है तो फिर उन्हें फिल्माने की जरूरत ही क्या है? साफ है कि ऐसे दृश्य उपभोक्ता बाजार की प्रवृत्ति को ध्यान में रखकर फिल्माए जाते हैं- जैसे कि बहुत से विज्ञापनों में- और तब उन पर वही कानून लागू होने चाहिए जो स्त्री देह के आपत्तिजनक प्रदर्शन को लेकर होते हैं।

नंदकिशोर आचार्य (एक छोटा सा कलागत सवाल, जनसत्ता, 15 सितंबर 2002)

18.9 कला समीक्षा के अहम पहलू

हमें उम्मीद है कि यहां तक पहुंचने के बाद अखबारों में लिखी जाने वाली कला समीक्षा आपके लिए अपरिचित विधा नहीं रह गई होगी। मगर हमारा आपसे अनुरोध है कि लेखन एक व्यवहारिक विधा है, लिहाजा पाठ्यपुस्तक को सिर्फ एक दिशा-संकेतों वाली पुस्तिका मान कर चलें। इसकी मदद से आपको रास्ता खुद तलाश करना होगा। इसके लिए आप अखबारों में छपने वाली कला समीक्षाओं को पढ़ें। इस इकाई में प्रस्तुत बिंदुओं के आलोक में कला समीक्षा का खुद विश्लेषण करें और यह समझने को प्रयास करें कि समीक्षक अपने काम में कितना सफल रहा है। आगे हम उन बिंदुओं पर संक्षेप में नजर डालेंगे, जो कला समीक्षा के लिए अपरिहार्य हैं।

18.9.1 इतिहास का ज्ञान

'पशु-पक्षियों के मुखौटों की दृष्टि से रंजीत कपूर की 'खूबसूरत बहू' में बैल, एमएस सथ्यू की 'बकरी' में बकरी, वालफ्रेम मेहरिंग की 'बिल्ली चली पहनकर जूता' में बिल्ली के मुखौटों के प्रयोग दिलचस्प और मनोरंजक होने के साथ-साथ आलेखों की अनिवार्यता भी थे। इसके विपरीत 'लव लेटर्स' और 'चार दिन' में अरुण कुकरेजा ने मुखौटों का इस्तेमाल अपने निर्देशकीय अधिकार का प्रयोग करते हुए प्रदर्शनों को दृश्यात्मक दृष्टि से व्याख्यायित करने और समृद्ध बनाने के लिए किया था। गिरीश करनाड के नाटक 'हयवदन' में तो घोड़े की मुखौटों की तो ऐसी महत्त्वपूर्ण भूमिका है कि उसके बिना इसकी किसी उल्लेखनीय प्रस्तुति की कल्पना ही नहीं की जा सकती। अपने पूर्णांग होने के लिए बेचैन और दर-दर भटकते हयवदन यानी घोड़े के चेहरे और मनुष्य की देह वाले इस अदभुत चरित्र की कथा देवदत्त और कपिल के माध्यम से संपूर्ण पुरुष की तलाश करती असंतुष्ट एवं अतृप्त पद्मिनी की कथा के समनांतर ही चलती है। यही नहीं, इस नाटक में रचनाकार ने प्रमुख चरित्र देवदत्त और कपिल के सिरों की अदला-बदली के लिए भी मुखौटों की ही कल्पना की है।'

जयदेव तनेजा (मुखौटे, रंगकर्म और आज का जीवन, रंग प्रसंग, अक्तूबर-दिसंबर 2004)

जब हम कला के इतिहास या संदर्भों की बात करते हैं तो हमारा आशय उस जानकारी से होता है जो समीक्षा को अन्य कला प्रस्तुतियों से तुलनात्मक अध्ययन करने, कलाकार के पिछले कामों के परिप्रेक्ष्य में इस नए काम का विश्लेषण करने तथा मौजूदा सामाजिक संदर्भों से जोड़ने में मदद करती है। इससे आपकी समीक्षा दिलचस्प और पठनीय बनती है। पाठकों में नई जानकारी के आलोक में किसी भी कलाकृति का विश्लेषण अच्छा लगता है। उपरोक्त उदाहरण देखें तो जयदेव तनेजा ने सिर्फ मुखौटों का संदर्भ लेकर गिरीश करनाड के नाटक 'हयवदन' का बहुत सुदंर विश्लेषण किया है। ये संदर्भ बदल भी सकते हैं और इस तरह से आपको यह स्पष्ट हो रहा होगा कि किसी भी कलाकृति के विश्लेषण की बहुआयामी संभावनाएं होती हैं। जब आप उन आयामों को पहचानने लगेंगे तो आप एक बेहतर कला समीक्षक के रूप में सामने आ सकते हैं। एक और उदाहरण देखें-

'एक दिन प्रतिदिन' के बाद मृणाल सेन एक बार फिर नए फिल्मकार के रूप में सामने आते हैं। कोलकात्ता को लेकर बनी उनकी फिल्मों जैसे 'इंटरव्यू', 'कोलकात्ता-71', आदि में एक गुस्सा था और एक अहंकार भी था कि वे असलियत और सत्य को पूरी तरह से समझते हैं और उस सत्य को बेहिचक अपनी फिल्मों में दशति हैं। लेकिन अब उन्हें शंका होने लगी थी कि असलियत या यर्थाथ इतना सरल और एकतरफा नहीं है। इसका सीधा संबंध साम्यवादी

विचारधारा में हो रही बहस से था। इटली के एक वामपंथी बुद्धिजीवी इलियो वितरोनी इस बहस के केंद्र में थे। वितरोनी का कहना था कि कम्युनिस्ट पार्टी में कट्टरवादियों की समस्या यह है कि वे समझते है कि सत्य उनकी जेब में रखा है, जबकि असली नुक्ता यह है कि सत्य को जेब में रखना नहीं, बल्कि उसकी लगातार तलाश करनी होती है।

के बिक्रम सिंह (मृणाल दा, जनसत्ता, 25 मई, 2005)

यहां के. बिक्रम सिंह 'एक दिन प्रतिदिन' में मृणाल सेन की बदली हुई फिल्म भाषा को उनके अतीत में जाकर पहचानने की कोशिश करते हैं और हमें स्पष्ट होता है कि कैसे निर्देशक पर बदलती विचारधाराओं का असर पड़ा और उनकी फिल्म बनाने की शैली में इसका असर दिखा। गौर करें, क्या इस पृष्ठभूमि के बिना फिल्म 'एक दिन प्रतिदिन' का सार्थक मूल्यांकन हो सकेगा?

18.9.2 दृष्टि विकसित करना

कला के प्रति 'दृष्टि' विकसित किए बिना बेहतर समीक्षा नहीं लिखी जा सकती। कला समीक्षक यह दृष्टि कहीं से आयातित नहीं करता, इसे सतत विकसित करना होता है, इसकी कोई सीमा या अंत भी नहीं है। विधाओं की तकनीकी बारीकियों को सीखना, कला में अंतर्निहित संदेश को समझना और अपने समय और इतिहास की समझ विकसित करने से ही दृष्टि भी बनती है। उदाहरण देखें-

'अलग-अलग शॉटों को आपस में कई प्रकार से जोड़ा जा सकता है। इसका एक सीधा तरीका यह है कि एक शॉट के समाप्त होते दूसरा शॉट शुरू कर दिया जाए। इसे फिल्म की पारिभाषिक शब्दावली में 'कट' कहते हैं। इसमें दर्शकों उपर यह प्रभाव पड़ता है कि एक दृश्य गायब होकर उसके स्थान पर दूसरा दृश्य आ गया। शॉटों को जोड़ने का दूसरा तरीका 'फेड आउट' और 'फेड इन' कहलाता है। इसमें पहला शॉट धीरे-धीरे धूमिल होता हुआ अंधकार में विलीन हो जाता है और अगला शॉट उस अंधेरे से प्रकट होता है। तीसरा तरीका 'डिजाल्व' कहलाता है। इसमें पहले शॉट की सामग्री क्रमशः सिमटती हुई प्रकाश में घुल जाती है और उसकी जगह नए शॉट का दृश्य आ जाता है। चौथा तरीका 'सुपर इंपोजिशन' कहलाता है। इसमें पहले शॉट के दृश्य के ऊपर ही अगले शॉट का दृश्य भी पारदर्शी छाया के रूप में अंकित हो जाता है। फिर पहला दृश्य गायब हो जाता है, और उसके स्थान पर दूसरा दृश्य पूरी तरह व्यक्त हो जाता है। कहानी की दृष्टि से इस प्रकार के अलग-अलग जोड़ों का अलग-अलग महत्त्व हैं और वे समय अंतराल तथा अन्य प्रकार के अलग-अलग प्रभावों का सृजन करते है। किंतु फिल्म की लय निर्माण के दृष्टिकोण से इनका अपना महत्त्व है और इनके विभिन्न संयोजन लय निर्माण को विभिन्न प्रकार से प्रभावित करते हैं।

कुवंर जी अग्रवाल (फिल्म माध्यम का व्याकरण, रंग प्रसंग अप्रैल-जून 2005)

उपरोक्त उदाहरण से आपको यह स्पष्ट हो गया होगा कि सिनेमा की तकनीक का उसके कथ्य से कितना गहरा संबंध है। उसके तकनीकी व्याकरण की व्याख्या करते हुए कथ्य में छिपे अर्थ तलाशे जा सकते हैं। एक और उदाहरण देखें-

'जहां तक सूजा की कला में भारतीय मंदिर, मूर्तिशिल्पों की आकृतियों से, उनकी भंगिमाओं-मुद्राओं-गोलाइयों और सुघड़ता से कुछ सीखने और ग्रहण करने का सवाल है, तो उन्होंने उस प्रभाव को स्वीकार किया है। खजुराहो-कोर्णाक आदि की एक छाप हम सूजा की चित्र भाषा में हम ढूंढ़ सकते हैं, ठीक वैसे ही जैसे कि हुसेन की चित्र भाषा में भी। वह है ही, पर इसे ढूंढ कर हम फिर यही पाऐंगे कि वह भी धार चमकाने वाले अर्थ में ही है- अंततः सूजा और हुसेन की रेखाओं का गठन उनका अपना ही है। यहीं यह याद कर सकते हैं कि यही वे दो आधुनिक भारतीय कलाकार हैं, जिन्होंने रेखाओं को लयात्मकता के साथ ही उसे एक तीक्ष्णता दी। उसे पैना किया और उसमें ऐसी गति भरी की वह अपनी एक ही 'यात्रा' में बहुत

कुछ को समेट लें। हुसेन, सूजा, रजा के 'प्रोग्रेसिव आर्टिस्ट ग्रुप' ने पश्चिमी आधुनिकता से भी एक संवाद चलाया और रेखा-रंगों के बोध के स्तर पर अपने को कहीं उस आधुनिकता के निकट पाया। इसमें एक ऐसी आधुनिकता की खोज शुरू से रही, बल्कि हुसेन और रजा में तो उसी का वर्चस्व रहा और आज तक है। पश्चिमी आधुनिकता, या कहें पश्चिमी आधुनिकता की चित्र भाषा से उनके सरोकार को आज हमें इसी भाषा में देखना चाहिए, चाहे वह पश्चिम की कला हो या पूर्व या समूची विश्व कला हो, उसके किसी न किसी हिस्से से अपने-अपने समय में, हर कलाकार का कुछ लेन-देन रहता ही है। और कला की अपनी एक समकालीनता प्राय: सर्वत्र लक्षित की जा सकती है। यह भी अकारण नहीं है कि स्वयं 'प्रेग्रसिव आर्टिस्ट ग्रुप' कुछ ही वर्षों में टूट और बिखर गया क्योंकि उसके कलाकार यह देख पा रहें थे कि ग्रुप के संकल्पों या मैनिफेस्टो से स्वयं उनकी अपनी खोज की संगति बैठ नहीं पा रही है।'

प्रयाग शुल्क (रजा के चित्रों की उर्जा, जनसत्ता, 23 फरवरी 2003)

यहां जाने माने कला समीक्षक प्रयाग शुक्ल ने प्रोग्रेसिव आर्टिस्ट ग्रुप के कुछ महत्त्वपूर्ण कलाकारों के बारे में उनकी खुद की कला यात्रा के संदर्भ में समझने का प्रयास किया है। इन कलाकारों के मन में भारतीय और पश्चिमी शैली के बीच का द्वंद्व, समकालीनता से उनकी टकराट तथा एक नई कला शैली की खोज को सिर्फ इस छोटे अंश में समझा सकता है।

18.9.3 रचनाएं और रचनाकार

किसी कला विधा को समझने के लिए उसके सर्जक से बेहतर माध्यम और क्या हो सकता है। उससे मिली जानकारी कई किताबों पर भारी पड़ सकती है। इसलिए एक कला समीक्षक को रचनाकारों से सीधे संपर्क का लाभ यथासंभव उठाना चाहिए। इसे इटंरव्यू तक सीमित न रखकर उसका विस्तार उनके सामने आने वाली कला संबंधी चुनौतियों, उनकी नई भाषा की खोज और सामाजिक मूल्यों से उनके अंतर्द्वंद्व तक करने का प्रयास करना चाहिए। उनकी अपनी कला दृष्टि के आलोक में प्रस्तुतियों तथा कलाकृतियों को समझने का प्रयास करना चाहिए। उदाहरण देखें-

'मैंने पढ़ रखा था कि नजीर राह चलते नज्में कहा करते, और छोटे पेशों वाले लोग और भिखारी अक्सर उनसे नज्मों की फरमाइश करते, और वे उनकी बात कभी नहीं टालते। ख्वाब ये अफसाना हो या हकीकत, मुझे ये बात बहुत अच्छी लगी, इससे मेरे ड्रामें को बहुत मदद मिल रही थी। और कलामे नजीर पढ़ने के बाद मैं इस पर ईमान लाने के लिए बिल्कुल तैयार था। चुनांचे ककड़ी वाले के किरदार ने ड्रामे के हीरो की शक्ल इख्तेयार कर ली, और यहीं से मुझे अपने प्लाट की बुनियाद भी मिल गई और ड्रामे का मंजर भी और उसका उनवान भी! प्लाट के ऐतबार से ड्रामा अफसानवी हैसियत रखता है, कहानी मनगढ़ंत है, और बहुत छोटी और सीधी सादी। मैंने जोर इस बात पर दिया कि 'खेल' को उस रूप में पेश करूं कि जो बुनियादी बात नजीर के बारे में कहना चाहता हूँ वो ठीक-ठाक और दिलचस्पी के साथ कह पाऊं।'

हबीब तनबीर ('आगरा बाजार' की अहम भूमिका)

गौर करें हबीब तनबीर के 'आगरा बाजार' की पूरी संरचना को समझने में उनकी भूमिका का छोटा-सा टुकड़ा कितनी मदद करता है। इसमें किरदारों, उनकी भाषा, प्लाट, और नाटक की प्रस्तुति तक को समझने की कुंजी है। एक और उदाहरण देखें-

'अच्छी चीज अक्सर कलाकार की जानकारी के बिना, लगभग अचानक बन जाती है। पेंटिंग या कविता से अकेलेपन में ही सही साक्षत्कार हो पाता है। नुमाइश में आजकल लोग बातें करते रहते हैं और साथ-साथ पेंटिंग देखते रहते हैं। ठीक ही कहा गया है कि पेंटिंग का एक अपना पर्दा होता है। जब आप उसे अच्छी तरह से देखें तो वह अपने आप ही खुल जाता है। पेंटिंग की भीतरी तहों तक जाने के लिए प्रेक्षक को रसिक होना चाहिए। आलोचक का काम जजमेंट देना नहीं है। चित्रसूत्र में रसिक को रस का आस्वाद करने वाला सधर्मी और सहृदय कहा गया है।'

(जतिन दास, जनसत्ता में विनोद भारद्वाज को दिए साक्षात्कार में)

इस इंटरव्यू में कला के प्रति जतिन दास के नजरिये में उस कला की पक्षधरता है जो दर्शक से अतिरिक्त संवेदनशीलता की मांग करती है। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि जतिन दास कला की सपाटबयानी से इत्तेफाक नहीं रखते।

'जैसा कि आपने कहा, कहानी गब्बर और ठाकुर और उनकी आपसी लड़ाई के ईर्द-गिर्द घूमती है, अगर आप इन किरदारों को देखें तो आप पाएंगे कि ये एक-दूसरे से बिल्कुल उलट है। गब्बर मैला-कुचैला है, उसकी दाढ़ी बढ़ी हुई है, वह बड़बोला है, जबकि ठाकुर तो मुश्किल से मुंह खोलता है। ठाकुर बहुत ही साफ-सुथरा, गरिमामय और शांत स्वाभाव का है, जबकि गब्बर डींगे मारने वाला बड़बोला आदमी है। ठाकुर हमेशा से संजीदा से संजीदा हालत को भी हल्का बनाकर पेश करता है। यानी ये दोनों एक दूसरे से नाटकीय रूप से अलहदा हैं। यह जो आपने 'फंदा खुल गया' डायलाग की बात की, दरअसल यह डायलाग उस सीन का है, जिसमें ठाकुर एक घोड़े पर सवार है और गब्बर का पीछा कर रहा है। गब्बर उससे बचकर भागने की कोशिश करता है लेकिन ठाकुर उसे पकड़ लेता है और उसका गला दबा लेता है। ठाकुर अपने हाथों को गब्बर के गले में एक फंदे की तरह कसता जाता है और कहता है, 'ये हाथ नहीं फांसी का फंदा है, गब्बर' तो इस तरह ठाकुर के हाथ, जबकि बाहें गब्बर के दिलो-दिमाग पर हावी हो जाती हैं। ये वही हाथ थे जिन्होंने उस घोड़े की लगाम पकड़ रखी थी, जिसने उसका पीछा किया, इन्हीं हाथों ने उसके गले को दबोच लिया था, इसलिए गब्बर इन हाथों-कानून के इन हाथों से नफरत करता है।'

जावेद अख्तर (नसरीन मुन्नी कबीर को दिए साक्षात्कार में)

इस बातचीत से आप समझ सकते हैं कि ठेठ रूप से आर्थिक व्यवसाय को ध्यान में रखकर बनाई गई एक अच्छी फिल्म में भी कथानक को कितना बहुस्तरीय बनाने पर जोर होता है। यहां जावेद अख्तर बड़े दिलचस्प ढंग से दोनों किरदारों के विरोधाभास और उसकी वजह से सिनेमा के पर्दे पर उभरने वाले 'कंट्रास्ट' के बारे में जानकारी देते हैं।

18.10 कला समीक्षा की भाषा और शैली

'नौरंगी और रमा के रेलगाड़ी में चढ़ते ही फिल्म के परिदृश्य में नाटकीय मोड़ आता है और यही से गौतम घोष फिल्म को कथापरक बनाने की गरज से खोजी पत्रकारिता की शैली तजकर चरित्राकंन में रुचि लेने लगते हैं। रेलगाड़ी का एक सहयात्री नौरंगी से पूछता है कि कलकत्ता में उनका कोई ठौर-ठिकाना है तो वह अपनी जेब में रखे उस पता-पुर्जे की ओर संकेत करता है जिसे मास्टर जी के एक मित्र ने उसे संपर्क करने के लिए लिखकर दिया था। कलकत्ता सरीखा विराट नगर और एक-छोटा सा पता-पुर्जा। इन दोनों के सहमेल से फिल्मकार एक अनूठा दृश्यबंध रचते हैं जिसमें महानगर का संत्रास अपने चरमोत्कर्ष पर दिखाई देता है। हावड़ा स्टेशन के प्लेटफार्म की भीड़-भाड़, धक्कामुक्की, और चिल्लापों के बीच नौरंगी के हाथ से अचानक पते का पुर्जा छूट जाता है। बंबंडर में एक सूखी पत्ती की तरह पता का पुर्जा रेलयात्रियों के चप्पलों, जूतों, और पैरों के बीच उड़ता-फिरता लिथड़ता रहता है और अंतहीन ठोकरों के बीच नौरंगी विक्षिप्त और उदभ्रांत-सा उसे दबोचने की अनथक ऐसी चेष्टा करता है कि महानगर में उनकी हालत उसी कागज के पुर्जे-सी होने वाली है, जहां न तो उनका कोई ठौर-ठिकाना होगा और न ही कोई पहचान। मुआवजे में सिर्फ ठोकरें मिलेंगी और अकेलापन। नदी पार करने के दृश्यबंध के बाद फिल्म का यह सर्वाधिक शक्तिशाली दृश्यबंध है।'

विनोद दास (अपनी पुस्तक 'भारतीय सिनेमा का अंत:करण' में)

गौतम घोष की फिल्म 'पार' पर लिखी गई समीक्षा का यह छोटा सा टुकड़ा अपने आप में एक पठनीय आलोचना भाषा का सुदंर उदाहरण है। यह भाषा कई स्तरों पर काम करती है। यह एक साथ फिल्म को पढ़ने वाले के सामने खोलती है, उसका विश्लेषण करती है और किसी कथा

की तरह अपने प्रवाह में पढ़ने वाले को बहा ले जाती है। इस फिल्म के इस दृश्य को जिसने भी देखा होगा, वह यह स्वीकार करेगा कि उन दृश्यों को पाठकों तक पहुंचाने के लिए इतनी ही सशक्त भाषा की जरूरत थी।

तो भाषा ऐसी हो, जो कलाकृति के बंद दरवाजे खोले। वह पाठकों को उलझाए नहीं, बल्कि उन्हें किसी दिशा में ले जाए। ऐसी रोशनी में चीजों की व्याख्या करे कि सब कुछ साफ-साफ समझ में आने लगे। विनाद दास फिल्म के उस 'कंट्रास्ट' को पकड़ते हैं, जो कोलकात्ता जैसे महानगर और कागज के छोटे से टुकड़े से बनता है। फिल्मकार तो उसका एक संकेत भर देकर आगे बढ़ गया है। यह समीक्षक की भूमिका है कि वह कैसे पूरी फिल्म पर इसके प्रभावों को समझता और उसकी व्याख्या करता है। समीक्षा की भाषा शैली को हम तीन प्रमुख हिस्सों में विभाजित करके बेहतर ढंग से समझ सकते हैं। यह है: प्रस्तुति, विश्लेषण और शीर्षक देना।

18.10.1 प्रस्तुति

समीक्षा अपने पूरे स्वरूप में प्रभाव छोड़ती है। दिलचस्प शुरुआत, बेहतर विश्लेषण और समझदारी भरा अंत ही किसी समीक्षा को पठनीय बनाता है। अच्छी समीक्षा से ही हम अच्छी कलाकृतियों और कला के संसार से रू-ब-रू होते हैं। विश्व के महान रचनाकारों के करीब जाते हैं। उनकी सोच और शैली को आत्मसात करते हैं। यहां हम एक उदाहरण प्रस्तुत कर रहे हैं, जो ऋत्विक घटक पर लिखी गई समीक्षा से लिया गया है। देखें कि किस तरह समीक्षक ने उसकी जटिल शैली को पाठकों के लिए सहज बनाने का प्रयास किया है-

'ऋत्विक घटक की फिल्मों के दृश्यांकन का पैटर्न उनकी अभिव्यक्ति का अंग है। 'मेघे ढका तारा' फिल्म में वे सुविचारित लांग शॉट की तकनीक को अपनाते हैं और उनमें चरित्रों को सतत गतिशील बनाए रखते हैं ताकि दर्शकों की आँख पर न तो ज़्यादा जोर पड़े और न ही लांग शॉट की दीर्घावधि से वे ऊबें। सिर्फ यही नहीं, उन्होंने इस लांग शॉट में भी अनेक पैटर्न और फोकस विकसित करने की चेष्टा की है। 'सुवर्ण रेखा' फिल्म में वे छोटे शॉट के तकनीक की ओर मुड़ते हैं और यूनिवर्सल फोकस को केंद्र में रखते हैं ताकि फिल्म की नायिका सीता के चेहरे पर दुख और आक्रोश की बारीक रेखाओं को इतना सुस्पष्ट अंकित किया जा सके कि उसका प्रभाव त्वचा और हड्डियों को चीरते हुए शारीरिक स्तर पर महसूस किया जा सके। उनका सार्वधिक प्रिय लेंस 18 मिमि था। उनका मानना था कि जितने कम पावर का लेंस होगा, उतनी ही निकट की वस्तुएं दिखाई देंगी और फोकस की व्याप्ति में पर्याप्त वृद्धि हो जाएगी।'

विनोद दास (अपनी पुस्तक 'भारतीय सिनेमा का अंत:करण' में)

18.10.2 विश्लेषण

विश्लेषण किसी भी समीक्षा का सबसे अहम हिस्सा है। इसी हिस्से में हम किसी कलाकृति के बारे में विस्तार से जानकारी हासिल करते हैं और उसे अन्य संदर्भों से जोड़कर देखते है। जरूरी नहीं कि यह खूबी किसी खास कलाकार या रचना पर फोकस करके लिखी गई समीक्षा में हो। आयोजनों और प्रदर्शनियों की समीक्षा को सार्थक और पठनीय आलोचना के तौर पर विकसित किया जा सकता है। यहां हम एक फिल्म समारोह के 'कवरेज' को बतौर उदाहरण प्रस्तुत कर रहे हैं, जो समारोह विवरण तो प्रस्तुत करती है, इसी बहाने कुछ अहम सवाल उठाते हुए पाठकों को एक खास दिशा में सोचने की ओर भी प्रेरित करती हैं-

'जर्मनी के संदीप मेहता एक छोटी विडियो-फिल्म लाए हैं और अमेरिका से संजना सिंह तथा पिआ साहनी 11 सितंबर के बाद विदेशी मुसलिमों की हालत को 'आउट ऑफ स्टेट' शीर्षक विडियो-फिल्म में दिखाती हैं। अमेरिका के ही जॉन जोस्ट 78 मिनट लंबी एक दिलचस्प विडियो-फिल्म लाए हैं- 'छत्तीसगढ़ स्केचेज' जो चित्रकला का विलक्षण इस्तेमाल करती है। लेकिन सबसे दिलचस्प बात यह है कि जो काम भारत को करना चाहिए था वह रोतर्दम के इस फिल्म समारोह ने कर दिखाया- 'कभी हम परिंदे थे' (वन्स वी वर बड्र्स) शीर्षक खंड में वह

सात ऐसी फिल्म दिखा रहा है जो रोमा लोगों, जिन्हें 'जिप्सी', 'ईरानी', 'खानाबदोश', 'त्सिगान', या 'त्सिगोइनर' कहा जाता है, के जीवन पर आधारित हैं। और उन्हें रोमा फिल्म निर्देशक ने ही बनाया है। ये रोमां वे भारतीय मूल के घुमंतू लोग हैं, वे शायद एक हजार वर्ष पहले ईरान से होते हुए यूरोप पहुंचे थे। और अब लगभग हर यूरोपी देश मे पाये जाते हैं। इनकी भाषा और संस्कृति से स्पष्ट है कि ये भारत के ही हैं। ऐसा कहा जाता है कि मूलत: यह डोम समूह के दलित हैं और डोम ही बदलकर 'रोम' और 'रोमां' हो गया। मेलित्ता चाइकोवस्की और पेपे आजोन की फिल्म 'जैसलमेर आयो! गेटवे आफ दि जिप्सीज' इन रोमाओं के आदि देश राजस्थान की यात्रा करते हैं। 'आम बारी: ब्रास ऑन फायर' 'लाचोद्रोम' टेक मी अवे', 'सिनफुल ओसिल्स ऑफ लव', 'इट्स ऑल माई फॉल्ट' तथा 'केनेडी गोज बैक होम' वे अन्य फिल्में हैं जो समसामयिक रोमा जीवन के कई मार्मिक तथा खट्टे-मीठे पहलुओं का चित्रण करती हैं। कुछ वर्षों पहले दिल्ली फिल्मोत्सव में मकदूनियाई रोमाओं पर एक फिल्म दिखाई गई थी, परंतु उसे अलक्षित ही किया गया। आज हम भारतीय 'डायस्पोरा' की बात करते हैं लेकिन असली और पहला भारतीय 'डायस्पोरा' ये हमारे रोमा भाई हैं, जिन्हें हमने भुला दिया है और शायद अब उनकी हालत हमें असुविधाजनक लगे। आज जब भारतीय समाज में दलित अस्मिता का बहुगामी उभार देखा जा रहा है तब हमारे लिए रोमाओं को जानना और उन्हें स्वीकार करना अनिवार्य है। सच तो यह है कि यूरोप के सारे रोमा अपने भारतीय मूल पर गर्व करते हैं और भारतीय से जुड़ना चाहते हैं। रोतर्दम फिल्म समारोह से सबक लेकर हम अपने फिल्मोंत्सव में ऐसी रोमा फिल्मों को नियमित रूप से प्रदर्शित कर सकते हैं। दलितों और दलितों से एकात्मना रखने वालों को भी इस दिशा में सक्रिय होना चाहिए। अभी तो हमारे यहां ही कोई असली दलित फिल्म नहीं बनी है।'

विष्णु खरे (बहुत कुछ भारतीय है रोतर्दम फिल्म समारोह में, जनसत्ता, 22 जनवरी, 2004)

18.10.3 शीर्षक देना

शीर्षक संक्षिप्त और आकर्षक होना चाहिए। बेहतर होगा कि यह कलाकृति के मूल आशय या संदेश को ध्वनित करता हो क्योंकि वह प्रस्तुति ही होती है, जिसके बारे में जानने के लिए पाठक कला समीक्षा की ओर जाता है। इसलिए शीर्षक में किसी किस्म का उलझाव या दुरूहता नहीं होनी चाहिए। उत्सुकता जगाने के लिए थोड़ा घुमावदार शीर्षक चल सकता है, पर यह हमेशा नहीं होना चाहिए। कुछ उदाहरण देखें-

1) **वैकल्पिक दुनिया बनाम आभासी दुनिया (जवरीमल्ल पारख, कथन, अप्रैल-जून 2004)**

   'मैट्रिक्स सिरीज' की फिल्मों पर विश्लेषणात्मक लेख

2) **सिनेमा में डाइरेक्टर 'किंग' है तो स्टेज पर एक्टर (दीप भट्ट, अमर उजाला, 5 जुलाई 2004)**

   थिएटर और सिनेमा के अभिनेता शिवाजी साटम के साक्षात्कार

3) **हिंसक समय में संगीत (शशिभूषण द्विवेदी, अमर उजाला, 5 मई 2003)**

   रोमान पोलांस्की की फिल्म 'द पियानिस्ट' पर एक रिव्यू

   एक और उदाहरण देखें-

4) **कैमरे का कलाकार (अजय कुमार सिंह, जनसत्ता, 6 जनवरी 2002)**

कैमरे में सुब्रतो मित्रा की महारत देखकर ही सत्यजित रे ने अपनी प्रमुख फिल्मों के छायांकन का जिम्मा उन्हें सौंपा था। शैलेंद्र की यादगार हिन्दी फिल्म 'तीसरी कसम' तो उनकी फोटोग्राफी का

उत्कृष्ट नमूना है। सिनमेटोग्राफी से क्या-क्या चमत्कार दिखाए जा सकते हैं, यह उन्होंने कई फिल्मों में सिद्ध कर दिया। फिल्मों में बाउंसिंग लाइट या फिर छायाहीन लाइट का इस्तेमाल पहली बार सुब्रतो मित्रा ने किया था। बाद में यह पद्धति अंतराष्ट्रीय स्तर पर चर्चित हुई और इसे स्वीकृति भी मिली। वे शूटिंग के दौरान किसी तरह का कोई समझौता नहीं करते थे, चाहे शॉट कई बार क्यों न लेना पड़े।

18.11 कुछ अन्य महत्त्वपूर्ण टिप्स

'अंग्रेजी की फिल्म बगैर गाने की चलती हैं, क्योकि उसकी लंबाई वैसी है। हमारे यहां सिक्वेंस इस तरह से इस्तेमाल करते हैं जिस तरह कथावाचक रामायण या महाभारत सुनाते समय बीच में ब्रेक करता है। बीच में गाना आ जाता है... दोहा या चौपाई। यह एक ट्रेडिशन भी है। हमारे नैरेशन में, हमारी वाचिक परंपरा में इसकी बड़ी जगह है। हमारे अवचेतन में गीत है। स्टेज की परंपरा में गाने शामिल हो रहे हैं। जैसे आगा हस्त काश्मीरी के नाटक तीन-चार घंटे के होते थे तो दो या तीन इंटरवल हुआ करते थे। उनमें संगीत की जगह होती थी। कहीं एक स्तर पर रिलीफ भी होता है। एक जैसा कुछ चल रहा है, उसे नई लय एकरसता से उपर उठा देती है। फिर गीत संगीत हमारे यहां ज़िस तरह रोजमर्रा की जिदंगी का हिस्सा है पश्चिम में नहीं है। हमारे यहां दुधवाला भैया, तांगेवाला कोचवान, चाबुक लटकाए हुए भी गाता चलता है। हमारी संस्कृति में एक रवायत है। मां सुबह चौके बरतन पर काम करती है और भजन गुनगुनाती हैं...। चूल्हा अगर बुझाने जा रही है तो गा रही है, 'दिन तो बीता हरी, मेरी शाम पार करा दो'। वो दही बिलो रही है तो भी गा रही है। प्रभाती हमारी पारंपरिक संस्कृति का हिस्सा है। सुबह रंगोली सजाते हुए हम गीत गाते हैं और सांझ पड़े भजन भी हमारे होने पर होते हैं। पश्चिम की जिंदगी को परखकर देखिए, इस तरह जीवन में घुला-मिला संगीत कहां होता है? आप नहा रहे हैं, टीवी चल रहा है या रेडियो चल रहा है, आप गुनगुना रहे है। यह जो एक पर्सनल सिंगिंग है, अपने-आप के साथ गुनगुनाहट है। यह रोजमर्रा के हिन्दुस्तान में ही नजर आती है।'

(गुलजार से लिए साक्षात्कार में)

समीक्षा एक व्यवहारमूलक विधा है। इसमें कुछ सीधे-सादे नियम तो बनाए जा सकते हैं, मगर नियमों पर पूरी तरह से टिका नहीं जा सकता। गुलजार अपने इंटरव्यू में एक महत्त्वपूर्ण पहलू की तरफ इशारा करते हैं। अगर आप पश्चिमी सिने आलोचना को अपना मार्गदर्शक बनाकर चलें तो गुलजार द्वारा चिह्नित किया गया भारतीय सिनेमा का एक बड़ा पहलू हमसे छूट जाएगा। इसके लिए यह जरूरी है कि हम किसी नियम को अंतिम न मानते हुए उसमें संशोधन और परिमार्जन की गुंजाइश बनाए रखें। यहां हम विद्यार्थियों की सहूलियत के लिए कुछ टिप्स संक्षेप में दे रहे हैं-

- किसी भी प्रस्तुति, फिल्म या कला प्रदर्शनी में जाने से पहले या शुरू होने कुछ समय पहले उससे संबंधित जानकारी अवश्य जुटा लें। इससे प्रस्तुति के दौरान आपको उसके मुख्य और उल्लेखनीय हिस्सों पर फोकस करने में आसानी होगी।

- नोट्स ज्यादा से ज्यादा बनाएं। प्रस्तुति देखते समय मन में उठने वाले विचारों और टिप्पणियों को नोट करते चलें, बिना यह सोचे कि वे समीक्षा में काम आएंगे या नहीं। यह काट-छांट आप बाद में लिखते समय कर सकते हैं।

- प्रस्तुति खत्म होने के बाद वहां से तत्काल नहीं जाएं, बल्कि थोड़ी देर अन्य दर्शकों, देखने आए दूसरे कलाकारों तथा खुद प्रस्तुति करने वाले निर्देशक या कलाकारों के साथ बातचीत में हिस्सा लें। इससे आपको अपनी समीक्षा लिखने में मदद मिलेगी।

- लिखने से पहले अपने सारे नोट्स दुबारा पढ़ें। इससे स्वत: आपके मन में समीक्षा की रूपरेखा, उसकी शुरुआत, मध्य और अंत का खाका बनने लगेगा। इस थोड़े से परिश्रम से आपके समय की बचत होगी और समीक्षा भी बेहतर बनेगी।
- अंत में अपने लिखे को एक बार अवश्य पढ़ें। कुछ भी खटकने पर उसमें संशोधन से न हिचकें।

18.12 सारांश

इससे ज्यादा और क्या कहा जा सकता है कि वह सारी प्रशंसाओं से परे हैं, क्योंकि वह म ा हैं। वह अकेले फिल्मकार हैं जिसने किसी भी स्थिति में बिना किसी गफलत के भ्रामक लगने वाली मानवता को फिल्माया। आज लोग कहते है 'चैप्लिन' जैसे वे कहते हैं 'द विंची' या स्पष्ट कहें तो 'द ट्रैंप' जैसे 'लियोनार्दो। और बीसवीं सदी के सिनेमा के लिए इससे बड़ी सराहना और क्या हो सकती है, जो रोसेलिनी ने उनकी फिल्म 'ए किंग इन न्यूयार्क' को देखकर कही थी, यह आजाद आदमी की फिल्म है।

विश्व विख्यात फ्रांसीसी फिल्मकार ज्यां लुक गोदार चार्ली चैपलिन के बारे में

समाचार पत्रों के लिए फीचर लेखन से संबंधित व्यवहारमूलक पाठ्यक्रम की इस 18वीं इकाई में आपने सिनेमा, रंगमंच और कला प्रदर्शनियों पर लिखी जाने वाली समीक्षा के बारे में जानकारी हासिल की।

आपने यह समझा कि अच्छी समीक्षा के लिए किन बातों का ध्यान रखने की जरूरत हैं। साथ ही साथ इन विशिष्ट विधाओं की समीक्षा लिखे जाने के लिए हमें किस तरह दृष्टि और समझ विकसित करनी चाहिए। आपने संक्षेप में कलाओं की पृष्ठभूमि और भारत के आर्थिक -सामाजिक परिदृश्य में आए बदलावों के संदर्भ में इसे समझा।

आपने कुछ श्रेष्ठ कला समीक्षकों के उदाहरणों को पढ़कर और उनका विश्लेषण करते हुए यह देखा कि वे कौन से प्रमुख बिंदु है, जिसकी मदद से एक अच्छी समीक्षा लिखी जा सकती है। साथ ही उसकी भाषा शैली और बनुावट पर अलग से विचार किया।

अभ्यास

1) सिनेमा और रंगमंच की समीक्षा कैसे लिखें? उदाहरण देते हुए इस शीर्षक से एक निबंध तैयार करें।

2) राजकपूर, गुरुदत्त, विमल राय, वी शांताराम, या महबूब में से किसी एक निर्देशक से संबंधित विस्तृत जानकारी हासिल करें। उनसे संबंधित आलेखों की कटिंग, फिल्म समीक्षा और सिनेमा के इतिहास में उनके योगदान पर टिप्पणियां लिखें।

3) अपने शहर में होने वाली कला प्रदर्शनी या रंग प्रदर्शनियों की प्रवृति, कलाकारों को पेश आने वाली दिक्कतों पर उनसे बातचीत के आधार पर लेख तैयार करें।

18.3 बोध प्रश्नों/अभ्यासों के उत्तर

इकाई के गहन अध्ययन के पश्चात स्वयं उत्तर लिखिए।